ओकार : एक अनुचिन्तन



लेखक

मन्त्री पण्डित प्रवर श्रद्धेय श्री पुष्करमुनिजी म०



सम्पादक

देवेन्द्रमुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल

प्रकाशक	सार्वभौम साहित्य संस्थान । १०/१७ शक्तिनगर, देहली ६
प्राप्ति स्थान	भण्डारी सरदारचन्द जैन । जैन बुकसेलर त्रिपोलिया, जोधपुर ।
अर्थ सहयोगी	१. ऋषभराजजी पारसमलजी भूताजी, सिवाना । २. हस्तीमलजी भूताजी, सिवाना । ३. कानुगाधिगड़मलजी मुलतान-मलजी, सिवाना (राज०) ४. नरसिंहमलजी शांतिलालजी भारुण्डा (मारवाड़)
प्रकाशन-तिथि	२३ फरवरी सन् १९६४
मुद्रक	आर्य सहकारी प्रेस लिमिटेड, अजमेर ।
मूल्य	एक रुपया ।

पूर्वाङ्कन

मानव ने अपनी समस्याओ का समाधान करने के लिये अनेक सस्थाओ, परम्पराओ और विद्याओ को जन्म दिया, किंतु वे स्वयं समस्याये वनकर, मानव को दवाने लगी। उद्धार के स्थान पर हनन का कारण वन गई।

आत्मोन्नति के लिए कई संस्था अस्तित्व में आई उसका लक्ष्य था वाह्य तत्वो के आवरण मे छिपे हुए आंतरमानव का प्रकटीकरण, किन्तु उसका नाम लेकर नये-नये तत्त्व अस्तित्व में आ गये और वे मानवता को दवाने लगे। धर्म ने पंथ का रूप ले लिया। अहिंसा और प्रेम के स्थान पर वह परस्पर द्वेष एवं घृणा का पोषण करने लगा। धर्म के नाम से होने वाले युद्धो का इतिहास राजनीतिक युद्धो से कम रक्तरजित नही है।

परस्पर सहयोग द्वारा सर्वतोमुखी विकास के लिए समाज सस्था अस्तित्व मे आई किन्तु उसी वर्ण विद्वेष जाति-विद्वेष तथ्य लिङ्ग वैषम्य को जन्म दिया। एक मानव अपने आपको देवता मानने लगा और दूसरे को पशु से भी नीचे समझने लगा।

वाह्य आक्रमण को रोकने एवं चोर, डाकू आदि के उपद्रवों से सर्व साधारण की रक्षा के लिए राज्य संस्था अस्तित्व में में आई किन्तु अधिकार प्राप्त करके राजा अपने आपको अति-मानव मानने लगा और प्रजा को अपनी भोग्य सामग्री। दूसरी ओर राष्ट्रीयता के नाम पर सर्व साधारण को ऐसी मदिरा पिलाई जाने लगी, जिससे एक मानव दूसरे मानव को अपना

शत्रु समझे। उसी ने अणु तथा उद्जन सरीखे भयङ्कर अस्त्रों को जन्म दिया जिनकी संहारक शक्ति से सारा विश्व कांप उठा है।

वस्तुओं के विनिमय द्वारा दिनोंदिन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यापार या वाणिज्य विकास हुआ, किन्तु वहां भी एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करने लगा। वाणिज्य-शास्त्रियों का उर्वर मस्तिष्क ऐसे उपायों की खोज में लगा है जिससे बाजार पर एकाधिपत्य हो जाय और उपभोक्ता को विवश होकर अधिक मुल्य देना पड़े। मध्ययुग में व्यापार के नाम पर मनुष्यों का क्रय-विक्रय भी चलता रहा।

भौतिक स्वार्थों की संकुचित परिधि से बाहर निकाल कर मानव और मानव मे भावनात्मक एकता स्थापित करने के लिए कला एवं साहित्य अस्तित्व में आये। उनका लक्ष्य था मानव को हृदय की उस भूमिका पर पहुँचाना जहाँ वह एक संवेदन-शील प्राणी है। न वह हिंदू है न मुसलमान, न अंग्रेज न यहूदी, न स्त्री न पुरुष, न ब्राह्मण न शुद्र। कितु वे हृदय-शुद्धि के स्थान पर विलाशीता को प्रोत्साहन देने लगे। मनुष्य भावुक के स्थान पर कामुक बन गया है।

इस प्रकार हम देख रहे है कि समाधान स्वयं समस्यायें बनते चले गये। उपनिषदो मे मकडी का उदाहरण आया है, वह उसकी भूख की समस्या सुलझाने के लिए पेड़ से लारें निकाल कर जाला बुनती है, सोचती है उसमे कीडे मकोड़े फँस जायेंगे और वह अपना पेट भर लेगी; किंतु स्वयं उसमे फँस जाती है और प्राण गवा देती है। वर्तमान मानव की भी यही दशा है। वह नये-नये उपाय खोज रहा है और प्रत्येक के लिये यही

सोचता है कि वह उसे सुखी वना देगा; किन्तु वही नयी-नयी उलझनें पैदा करके उनका गला घोटने लगता है जिसे वह देवता मानता है, वह राक्षस वन जाता है, जिसे रक्षक के रूप में अपनाता है वही भक्षक हो जाता है, जिसे वरदान समझता है वही अभिशाप वन जाता है।

इस स्थिति का मुख्य कारण है अहंकार की उपासना। प्रत्येक मनुष्य अपने जन्म के साथ ही दो घेरे वना लेता है। पहला घेरा 'स्व' का है और दूसरा 'पर' का। स्व के घेरे मे वह प्रेम एवं सहयोग से काम लेता है और पर के घेरे में हिंसा एवं द्वेष से। पर के घेरे मे आने पर प्रत्येक समाधान समस्या वन जाता है और स्व के घेरे मे कठिन से कठिन समस्या का भी अपने आप समाधान हो जाता है। अहंकार की उपासना पर के घेरे को उत्तरोत्तर हृदयहीन वनाती जाती है। दो अहंकार परस्पर टकराते हैं और समस्त वातावरण को अशांत बना देते है उसे हिंसा एवं क्रूरता से भर देते है। मानवता के उद्धार का एक ही मार्ग है कि वह विषयता के स्थान पर समता की उपासना करे; भौतिक स्वार्थो के स्थल पर आध्यात्मिक उन्नति को महत्त्व देना सीखे। इसी को दूसरे शब्दों मे हम कह सकते हैं कि वह अहंकार के स्थान पर ओंकार का पुजारी वने।

भारतीय साधना में ॐकार की उपासना को सभी परंपराओ ने अपनाया है। वहिरात्मा से अन्तरात्मा अथवा जीवात्मा से परमात्मा पर पहुँचने का इसे अमोघ उपाय माना है। उपनिषदो ने इसे ब्रह्म का वाचक माना है। पतंजलि ने इसकी व्याख्या ईश्वर के रूप मे की है। जैनदर्शन में यही पंचपरमेष्ठी का वोधक है। पुराणों में इसका अर्थ त्रिदेव अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश किया गया है।

बुझाई, उसके निर्मल जल में स्नान करके शान्ति और शुद्धि प्राप्त की। वर्तमान मानव धर्म की ओर उपेक्षा भरी दृष्टि से देख रहा है। उसे ढोंग तथा लडाई-झगड़ों का कारण मान रहा है। ऐसे युग में इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि धर्म के उस उदात्त रूप को उपस्थित किया जाय जो वाह्य भेदों से ऊपर उठा हुआ हो। मन्त्री मुनिजी का यह प्रयास प्रशंसनीय है। हम आशा करते हैं कि वे इस ओर आगे बढ़ेगें और भारतीय साधना के उज्ज्वलतम रूप को उपस्थित करने में प्रयत्नशील होंगे।

प्रस्तुत पुस्तक सार्वभौम साहित्य संस्थान के प्रथम पुष्प के रूप में प्रकाशित हो रही है। मानव को राष्ट्र, जाति तथा पंथ की परिधियों से निकालकर महामानवता की ओर ले जाना संस्थान का मुख्य लक्ष्य है। ओम् सबसे बड़ा मङ्गल है। संस्थान को अनायास ही मङ्गल के रूप मे इस पुस्तक के प्रकाशन का सौभाग्य प्राप्त हुआ इसके लिये हम मन्त्री मुनिश्री के आभारी हैं, और साथ ही देवेन्द्र मुनिजी का भी। आशा करते है कि उनका आशीर्वाद तथा सहयोग हमें सदा प्राप्त होता रहेगा।

डॉ० इन्द्रचन्द शास्त्री
अध्यक्ष
सार्वभौम साहित्य संस्थान
१०/१७, शक्तिनगर, देहली ६

प्रकाशकीय प्रकाश

प्रबुद्ध पाठकों के पाणि-पद्मों में "ओंकार : एक अनुचिंतन" समर्पित करते हुए हम परम आह्लाद की अनुभूति कर रहे है। ॐ के सम्बन्ध मे जिज्ञासा रखने वाले साधको को प्रस्तुत ग्रन्थ में बहुत कुछ समझने को, चिंतन करने को प्राप्त होगा।

प्रकृत ग्रन्थ के लेखक पण्डित प्रवर श्रद्धेय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज है और सम्पादक है, तेजस्वी लेखक देवेन्द्र मुनि तथा जैन जगत् के यशस्वी, कलम कलाधर पंडित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल। तथा पुस्तक के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग दिया है धर्म-प्रेमी सुश्रावक मिश्रीमलजी, हस्तीमलजी भूताजी कानुगा धिगडमलजी सिवाना व दानवीर सेठ नरसिंहमलजी सालचा, भारण्डा निवासी ने।

श्री मिश्रीलालजी—जिनका कुछ समय पूर्व देहान्त हो गया, वे गुरुभक्त तथा भद्र प्रकृति के श्रावक थे। उनके ऋषभराजजी, पारसमलजी ये दो पुत्र है। जो अपने पूज्य पिता की तरह ही धर्मनिष्ठ है। आपने स्वर्गीय पिता श्री की पुण्य स्मृति में ५०० रुपये पुस्तक प्रकाशन के लिये प्रदान किये है।

श्री हस्तीमलजी—आप परम श्रद्धालु, गुरुभक्त, जैनागमों के प्रेमी व अनेक थोकड़ो के ज्ञाता श्रावक हैं। आप सिवाना वर्ध-मान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ के अध्यक्ष है। आपने ३०० रुपया ग्रन्थ के प्रकाशन मे दिये है।

कानुगा धिगडमलजी, आप भी सिवाना के है। आप भी गुरुभक्त हैं आपने ३१ रुपये देकर अग्रिम ग्राहक बने हैं।

श्री नरसिंहमलजी—आप वयोवृद्ध, उत्साही व उदारमना श्रावक हैं। गुप्तदानी तथा गुरुभक्त हैं। आपने पुस्तक मे २०० रुपये की सहायता दी है। भविष्य में भी आप साहित्य प्रेमियों की सहायता प्राप्त होगी तो हम अधिक से अधिक उत्कृष्ट साहित्य प्रकाशित कर सकेंगे, उसी आशा और विश्वास के साथ।

—मन्त्री

ओंकार : एक अनुचिन्तन

विषयानुक्रम

ओंकार की महिमा

आर्य जाति के साहित्य में 'ॐ' एक असाधारण मंत्र है। अनादिकाल से असंख्य-असंख्य साधक, मुनि और योगी इस परम पावन मंत्र का ध्यान करते आ रहे हैं। इस मंत्रराज मे अनन्त गरिमा सन्निहित है। शरीर की स्थिति और पुष्टि के लिए जैसे आहार की अनिवार्य आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आत्मा मे निहित शक्तियो के आविर्भाव और विकास के लिए 'ॐ' का ध्यान अनिवार्य माना गया है। यह मंत्रराज 'ॐ' समस्त आध्यामित्क विद्या का स्त्रोत और योग-विद्या का पुनीत केन्द्र है। न जाने कितने साधको ने 'ॐ' के गम्भीरतर रहस्य को अधिगत करके कृत-कृत्यता प्राप्त की है।

'ॐ' इस लघुतम पद मे विश्व संस्कृति की मौलिक एकता की छाप है और वह स्पष्ट रूप से इंगित करता है कि संस्कृति का मूल स्त्रोत एक ही है, भले ही विभिन्न देशो और कालो मे उसने कितने ही अनोखे अनोखे रूप धारण किए हो।

हम आगे चल कर देखेगे कि इस लघुकाय पद में किस प्रकार समग्र विश्व और समस्त मतो एवं पंथो के महनीय देवों का समावेश होता है। 'ॐ' को प्रणाम करते हुए कहा गया है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, वाचकं परमेष्ठितः।
सिद्धचक्रस्य सद्वीजं, सर्वदा प्रणमाम्यहम्॥

'ॐ' एक अक्षरवाला ब्रह्म है या एक मात्र अक्षर-अविनश्वर ब्रह्म है। वह परमेष्ठी का वाचक और सिद्धचक्र का बीज है। मैं उसे सर्वदा प्रणाम करता हूँ।

आर्यावर्त्त के प्रत्येक आत्मसाधक ने मंत्रराज के प्रति अपनी गहरी श्रद्धा अर्पित की है। वास्तव मे आत्मिक शक्तियो को उद्बुद्ध करने के लिए 'ॐ' का ध्यान, चिन्तन और मनन अतीव उपयोगी है।

साधक जब समाहित चित्त से 'ॐ' का ध्यान करता है और तन्मयता की एकनिष्ठ अनुभूति मे लीन बन जाता है, तब उसमें उसकी समग्र विराटता प्रतिबिम्बित और समाहित हो उठती है। उसका आत्मिक सामर्थ्य अदम्य, उसकी क्षमता अप्रतिहत और उसका वीर्योल्लास अपूर्व हो जाता है।

जैसे कल्पवृक्ष, चिन्तामणि-रत्न और कामधेनु आदि दिव्य-भौतिक पदार्थों से मनोवांछित भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति होती है वैसे ही इस क्षीरसागरवत् निर्मल शब्दराज 'ॐ' पद से आत्मा मे निर्मल तथा सात्विक गुणों का आविर्भाव होता है।

जब 'ॐ' के जप और ध्यान से आत्मा सात्विक गुणों से परिपूर्ण बन जाती है तो यह स्वाभाविक ही है कि उसका भविष्य मंगलमय बने। इस दृष्टि से गीता का यह कथन समीचीन ही है कि—जो साधक एकाक्षर ब्रह्म-स्वरूप ॐ का उच्चारण करता हुआ देहोत्सर्ग करता है, वह परमा गति प्राप्त करता है। *

वेदान्तदर्शन के समर्थ विद्वान् आचार्य गौड़पाद ने ओंकार के संबंध में जो कुछ कहा है, वह भी यहां उल्लेखनीय है। वे कहते है—

'साधक को चाहिए कि वह ओंकार में अपने चित्त को समाहित करे, क्योंकि ओंकार ही निर्भय ब्रह्म है। जिसका चित्त नित्य ओंकार मे समाहित रहता है, भय उसके निकट भी नही फटकता।'

'ओंकार ही परब्रह्म है और ओंकार ही अपरब्रह्म है। उसका कोई कारण नही, अतः वह अपूर्व है। जगत् मे कोई वस्तु ऐसी नही जो

---

* ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, व्याहरन्मामनुस्मरन्।
य: प्रयाति त्यजद्देहं, स यातति परमां गतिम्॥

—भगवद्गीता, ८—५

उससे भिन्न जातीय हो या बाह्य हो। वह अकार्य और अव्यय है।'

'समझना चाहिए कि ओंकार सबके हृदय मे स्थित ईश्वर है। जो ईश्वरस्वरूप सर्वव्यापी ओंकार को जान लेता है, वह ज्ञानी पुरुष शोक से मुक्ति पा लेता है।'*

अन्त मे कहते हैं—जिसने ओंकार को जाना है वही मुनि है। जो ओंकार के विराट्-विश्वव्यापी स्वरूप को नही जानता, उसके मर्म तक-अन्तस्तत्त्व तक नही पहुँचा, वह मुनि-पद का अधिकारी नही।'

---

* युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य, न भयं विद्यते क्वचित॥
प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म, प्रणवश्च परः स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः॥
प्रणवं ईश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं, मत्वा धीरो न शोचति॥

—माण्डूक्योपनिषद,

ओकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः।

—वही पूर्वोक्त,



ॐ की महिमा का रहस्य

ॐ की महिमा के संबंध में जो कहा गया है, उसे पढ़ कर जिज्ञासु जन के मानस में स्वभावतः यह प्रश्न उद्‌भूत हो सकता है कि आखिर उसके अद्‌भुत एवं अचिन्त्य प्रभाव एवं माहात्म्य का रहस्य क्या है ?

वास्तव मे इस प्रश्न का विशद उत्तर वही साधक दे सकता है, जिसने दीर्घकाल पर्यन्त अनन्य निष्ठापूर्वक ॐ का ध्यान और उसके विषय में चिन्तन किया हो। तथापि गंभीर विचार करके हम भी उसके महत्त्व के रहस्य का आभास अवश्य पा सकते है।

'अणोरणीयान् महतो महीयान्' यह उक्ति ओंकार के विषय में पूर्ण रूपेण चरितार्थ होती है।

प्रत्येक अन्य पदार्थ के समान ओंकार के भी दो रूप हैं—बाह्य और आन्तरिक। उसका बाह्य रूप अक्षरात्मक है जो भाषा-जातीय पुद्‌गल-स्कंधो से निर्मित है और अन्यान्य मंत्रो की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म, बल्कि सूक्ष्मतम हैं। किन्तु उसका आन्तरिक रूप महान् से महान् है, अति-विशाल है, विराट् है। उसे किसी सीमा में आबद्ध नही किया सकता। उसका विस्तृत विवेचन अगले प्रकरणो में किया जाएगा।

विभिन्न इकाइयो मे समाहित शक्ति यदि किसी एक इकाई में केन्द्रित कर ली जाती है तो उसमें अनेकगुणित वृद्धि हो जाती है। इस तथ्य को समझने के लिए हम अग्निकणो को ले ले। बिखरे हुए अग्निकणो में भी दाहकसामर्थ्य है किन्तु उन्हें यदि केन्द्रित कर दिया जाय तो उनका दाहकसामर्थ्य कई गुणा बढ जाता है। यह वृद्धि तो उस समय हुई जब अग्निकणो को सिर्फ एकत्र किया गया है और उनकी पृथक् इकाइयाँ बनी हुई है। अगर हम किसी प्रयोग द्वारा उन समस्त पृथक्-पृथक अग्नि-

कणों के सामर्थ्य को किसी एक कण में संक्रांत कर सकें तब तो वह सामर्थ्य इतना अधिक बढ जाएगा, कि उसकी कल्पना करना ही कठिन होगा ।

शर्करा के प्रत्येक कण मे माधुर्य विद्यमान है । यदि उन कणों को केवल एकत्र कर लिया जाय और उनका पृथक्-पृथक अस्तित्व कायम रहने दिया जाय तब भी उनके माधुर्य मे वृद्धि हो जाती हैं। किन्तु जब शर्कराकणो की पृथक् सत्ता विलीन करके उन्हे 'सेक्रीन' के रूप मे परिणत कर दिया जाता है तो माधुर्य में विस्मयजनक वृद्धि हो जाती है। शर्कराकणो की अपेक्षा सेक्रीन का बाह्य रूप-परिमाण बहुत सूक्ष्म होता है, तथापि उसका माधुर्य अत्यधिक होता है ।

जो लोग साधारण बमो की अपेक्षा सूक्ष्म परमाणु बम की, और परमाणु बमो की अपेक्षा भी सूक्ष्मतर उद्जनबम की शक्ति की अधिकता को वैज्ञानिक पद्धति से समझ सकते हैं, उन्हे अन्यान्य मंत्रो की अपेक्षा सूक्ष्म ॐ मंत्र की शक्ति की प्रचण्डता को समझना कठिन नही होना चाहिए ।

'सेक्रीन' का माधुर्य भले ही अपूर्व-सा प्रतीत हो तथापि वह शर्कराकणो में से ही आता है, क्योंकि 'सेक्रीन' वस्तुतः शर्कराकणो का ही सार-सत्व है । इसी प्रकार ॐ में परिव्याप्त विराट् शक्ति भी अन्य मंत्र से ही आई है और वह मंत्र है पंचनमस्कार मंत्र ।

जैसा कि आगे कहा जायगा, पंचनमस्कार मंत्र 'पूर्व' नामक विशाल श्रुतो का सार है। और ओंकार उसका भी सार है । इस प्रकार सार का सार होने के कारण ही संभवतः ओंकार मे अद्भुत, असाधारण और अतर्क्य सामर्थ्य प्रादुर्भूत हो गया है ।

ओंकार की सर्वमान्यता

विश्व-साहित्य में ॐ का समकक्ष कोई दूसरा पद उपलब्ध नही है जिसे इतनी श्रद्धा और प्रतिष्ठा प्राप्त हो। उसमें जो गूढ़ और विराट् तत्त्व समाहित है, वह किसी भी एक पद में दृष्टिगोचर नही होता। यही कारण है कि भारतवर्ष की विभिन्न धर्म-परम्पराओं ने एक स्वर से इस मंत्रराज के महिमागान में अपनी श्रद्धा के स्वर संजोए है। जैन, बौद्ध और विभिन्न वैदिक परम्पराएँ ओंकार के असाधारण महत्त्व की स्वीकृति में एकमत हो जाती है। इतना ही नही, भारतीयेतर ईसाई, मुस्लिम, पारसी आदि मतों के साहित्य में भी उसने सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। नीचे दिये जाने वाले कतिपय उद्धरणों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा।

ओ३म् खम्ब्रह्म।

—यजुर्वेद अ. ४०, मंत्र १७।

ओ३म् इति ऐतदक्षर उद्गीतमुपासीत।

—छान्दोग्य उपनिषद्।

ओ३म् इति ऐतत् अक्षरं इद १९ सर्वं तस्योपायाख्यानम्।

—माण्डूक्योपनिषद्।

ओमित्येतत्।

—कठोपनिषद्, १-२-१५

ओमित्यात्मानं युञ्जीत।

—मैत्र्युपनिषद्, ६-३

ओमिति ब्रह्म।

—तैत्तिरीय उपनिषद्, १-८-१

ओंकार एवेद सर्वम् । *

—छान्दोग्य उपनिषद्, २-२३

प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा, प्रणवात्प्रभ वो हरिः ।
प्रणवात्प्रभवो रुद्रः, प्रणवो हि परो भवेत् ॥ †

—उपनिषद्

प्रणव से ब्रह्मा है प्रणव से हरि है, प्रणव से रुद्र है और प्रणव ही पर तत्त्व है ।

बौद्धो का प्रधान मंत्र है-'ओ३म् मणिपद्मे हुम् ।'

सिक्ख भाई 'एक ओंकार सद्गुरु प्रसाद' कह कर ओंकार के महत्त्व को शिरोधार्य करते हैं ।

भाषातत्त्व विदों के अनुसार फारसी भाषा में 'अलिम्' का रूप धारण करके ॐ ने स्थान प्राप्त किया है तो अंग्रेजी भाषा मे OMEN के रूप में वह आसीन है ।

जैनपरम्परा के साहित्य में तो उसे उच्चत्तर स्थान प्राप्त है ही । एक जैनाचार्य ओंकार को नमस्कार करते हुए और उसे 'कामप्रद' तथा 'मोक्षप्रद' बतलाते हुए कहते हैं—

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः ॥

ओंकार के इस स्तव मे वैदिक एवं जैन परम्परा का स्वर एक हो गया है । यह श्लोक दोनो परम्पराओं मे प्रतिदिन पढा जाता है ।

'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म वाचकं परमेष्ठिनः' इत्यादि जैन परम्परा-

---

* इन सब उपनिषदो के उद्धरणों का करीब-करीब एक ही तात्पर्य है कि ॐ ब्रह्म है, आत्मा है और वह सब कुछ है ।

† 'कल्याण' गोरखपुर के साधना अङ्क से उद्धृत ।

प्रसिद्ध श्लोक पहले उद्धृत किया जा चुका है। इस श्लोक में ओंकार को सिद्धचक्र का बीज प्रतिपादित किया गया है।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ओंकार को समस्त मंत्रों में आद्य (प्रथम और उत्तम) बतलाते हुए कहते है—

ओंकारमिव मन्त्राणा—
माद्यं संगीत कर्मणाम् ।
सुस्वरं पूरयामासु—
र्वेणुं वैणविकोत्तमाः ।

—त्रिषष्ठि शलाका पुरुषचरित, १-६-७०७

श्री रत्नमन्दिर गणी ने ओकार का महिमागान इस प्रकार किया है-

ओकारः कल्पकारस्करतिकरतिरस्कारिदातातिरेकः,
शब्द ब्रह्मैकरत्नाकरहिमकिरणः कारणं मंगलानाम् ।
देयाद्वः शुद्धबुद्धिं निरवधिमहिमाम्योनिधिः सार्वसिद्धा—
चार्योपाध्याय साधूनभिदधदधिकं धीमदाराधनीयः ॥

—भोजप्रबन्ध-मंगलस्मरण

अर्थात् ओकार कल्पतरु से भी अधिक अभीष्ट प्रदान करने वाला है, शब्द ब्रह्म रूपी अद्वितीय रत्नाकर का विकास करने के लिए चन्द्रमा के समान है, मंगलों का कारण है, असीम महिमा का महार्णव है, सभी परमेष्ठिओ का वाचक है और बुद्धिमानो के लिये अराधनीय है, ऐसा ओकार तुम सभी को शुद्ध बुद्धि प्रदान करे।

'पंचवस्तुक' में भी इसी प्रकार का आशय प्रदर्शित किया गया है—'ओमिति परमेष्ठिपंचकमाहः कथमिति चेदुच्यते—'अ' इति अर्हंत-आद्याक्षरम्, 'अ' इत्यशरीरस्य सिद्ध वाचकस्याद्याक्षरम्, 'आ' इत्याचार्यस्याद्याक्षरम्, 'उ' इत्युपाध्यायस्याद्याक्षरम्, 'म्' इति मुनीत्यस्याद्याक्षरम्—अ+अ+आ+उ+म् इति, ततः सन्धिवशात् ओमिति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् एवमुक्तिः।...........ओमिति सर्वविद्या-

नामाद्य बीजं सकलागमोपनिषद्भूतं सर्वविघ्नविघातनिघ्नमखिल-दृष्टादृष्टफलसंकल्पकल्पद्रुमोपमम्, इत्यस्य प्रणिधानस्यादावुपन्यस्तं परम-मङ्गलम्, न चैतद्व्यतिरिक्तमन्यत्तवमस्ति इत्यादि।

यहां बतलाया गया है कि 'ओ' पद पांचों परमेष्ठियों का वाचक है; क्योंकि वह परमेष्ठिवाचक अरिहन्त, अशरीर (सिद्ध), आचार्य उपाध्याय और मुनि शब्दों के आद्य अक्षरों से बना है। पद के एक देश में पदसमुदाय का आरोप होता है, इस न्याय के अनुसार ओं की यह निष्पत्ति उचित ही है।.......... 'ओ' सर्व विद्याओं का आद्य बीज है, सकल आगम-उपनिषद् रूप है, समस्त विघ्नों का विघातक और मनोरथों की पूर्ति करनेवाला कल्पपादप के समान है।

आचार्य शुभचन्द्र ने बड़े प्रभावशाली शब्दोंमे ॐ के स्मरण की पवित्र प्रेरणा की है:—

स्मर दुःखानलज्वाला-प्रशान्तेर्नवनीरदम्।
प्रणवं वाङ्मयज्ञानप्रदीपं पुण्यशासनम्॥
यस्माच्छब्दात्मकं ज्योतिः प्रसूतमतिनिर्मलम्।
वाच्यवाचकसम्बन्धस्तेनैव परमेष्ठितः॥

—ज्ञानार्णव, २८, ३१–३२

यह प्रणव (ओंकार) दुःखाग्नि की ज्वालाओं की उपशान्ति के लिए नूतन मेघ है अर्थात् समस्त दुःखों का विनाशक है आगम ज्ञान के लिए प्रदीप के समान है और पुण्यशासन है।

ओंकार से ही अत्यन्त निर्मल शब्दात्मक ज्योति प्रकट हुई है और उसी के द्वारा परमेष्ठी का वाच्य-वाचकभाव है, अर्थात् पांच परमेष्ठी वाच्य हैं और ओंकार उनका वाचक है।

जैनदर्शन में वाच्य और वाचक का कथंचित् -भेदाभेद संबंध स्वीकार किया गया है। कहा है—

अभिहाणं अभिहेयाउ होइ भिण्णं अभिण्णं च । *

इस सिद्धान्त के अनुसार ओंकार की आराधना पंचपरमेष्ठी की आराधना है।

इस प्रकार उल्लिखित कतिपय अवतरणों से भलीभांति विदित हो जाता है कि महामंत्र प्रणव किसी एक सम्प्रदाय या पंथ की पूंजी नही है। वह सम्पूर्ण भारतीय दर्शनो की ही नही; अन्य मतो की भी अमूल्य निधि है।

यह अनुमान करना निराधार नही कि प्रणव की उपासना और आराधना उस अति पुरातन काल से आर्य जाति मे होती आ रही है जब विभिन्न दर्शनों एवं पंथों का जन्म ही नही हुआ था। समय २ पर दर्शनों और पंथों की स्थापना हुई किन्तु परम्परागत प्रणवोपासना का परित्याग उन्होने नहीं किया। आर्य जाति जहां २ गई, अपने साथ ही महामहिम प्रणव को भी लेती गई। कालान्तर में जब अनेक देवो की कल्पना का जन्म हुआ और ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओ को सिंहासन पर आसीन किया गया तो 'ॐ' पद के साथ उनका भी सामंजस्य विठलाया गया। एक नया शब्दकोष हमारे सामने आया—

ब्रह्माऽकारोऽत्र विज्ञेयः, उकारो विष्णुरुच्यते।
महेश्वरी मकारस्तु, त्रयमेकत्र-तत्त्वतः।

'अ' ब्रह्मा, 'उ' विष्णु और 'म्' महेश्वर हैं। तीनो देव मिलकर 'ओं' रूप धारण करते है।

इस विषय का विशेष विचार अगले 'ओकार की निष्पत्ति' प्रकरण मे किया गया है। यहा केवल यही दिखलाना अभीष्ट है कि ओं की महिमा सर्वमान्य है।

---

* वृहत्कल्पभाष्य

उत्तराध्ययनसूत्र (अध्ययन २५ गाथा ३१) मे एक उल्लेख है—

न ओंकारेण बंभणो

अर्थात्—ओंकार के जाप या उच्चारण से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता।

इस उल्लेख के आधार से कुछ महानुभावो की ऐसी धारणा है कि जैन परम्परा मे ओंकार को स्थान नही है, किन्तु ऊपर दिये प्रमाणो से तथा जैन मंत्रशास्त्रो मे प्रदर्शित सैकड़ो मंत्रो के अवलोकन से यह धारणा निर्मूल प्रमाणित हो जाती है। प्रायः प्रत्येक जैन मंत्र के प्रारम्भ मे 'ओ' पद का प्रयोग हुआ है जो इस बात को सिद्ध करता है कि मंत्र मे जो सामर्थ्य है, वह ओं के विना प्रकट नही होता।

जैसा कि अन्यत्र प्रकट किया गया है, ओंकार नमस्कारमंत्र का सार-सर्वस्व है। ऐसी स्थिति मे यदि नमस्कारमंत्र का जैन-परम्परा मे आदरणीय स्थान स्वीकार किया जाता है तो कोई कारण नहीं कि ओंकार का भी वही स्थान न हो।

तो फिर उत्तराध्ययन के उल्लेख का अभिप्राय क्या है? इस प्रश्न पर थोड़ा विचार कर लें। यदि इस उल्लेख की पृष्ठभूमि पर गम्भीरता और बारीकी से विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि वहां बाह्य आचार या वेष का एकान्ततः महत्त्व स्वीकार करने वाले दृष्टिकोण का निरसन करके आन्तरिक आचार की प्रधानता प्रतिपादित की गई है। उत्तराध्ययन की पूरी गाथाएँ इस प्रकार हैः—

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो।
समयाए समणो होई, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो॥

—उत्तरा २५, ३१-३२

मुंडित होने मात्र से कोई श्रमण नही होता, ओंकार का रटन करने मात्र से कोई ब्राह्मण नही हो जाता, अरण्य में निवास करने मात्र से मुनिपन प्राप्त नही होता और कुश-चीर का परिधान कर लेने से ही तापस का पद प्राप्त नही किया जा सकता।

समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तापस होता है।

ध्यानपूर्वक देखने से यह बात असंदिग्ध हो जाएगी कि यहां बाह्य क्रिया मात्र को ही श्रमणत्व, मुनित्व और तापसत्व की कसौटी मानने के अतिरिक्त दृष्टिकोण का निषेध है, मगर इन क्रियाओं का निषेध नही है। इस उल्लेख से जो ओकार के जप या ध्यान का निषेध समझते है, उन्हे मुंडित होने का तथा अरण्यवास का भी निषेध मानना पड़ेगा। मगर ऐसा मानना जैनाचार की अनभिज्ञता का सूचक होगा।

शास्त्राकार का आशय स्पस्ट है कि सिर मुंडा लेने पर भी जब तक समताभाव जागृत नही होता तब तक श्रमणत्व नही आता। ओंकार-ओकार रटने पर भी ब्रह्मचर्य के बिना कोई ब्राह्मण नही कहला सकता। बनवास करने पर भी जब तक सम्यग्ज्ञान प्राप्त नही होता तब तक मुनित्व की प्राप्ति नही हो सकती और कुशवस्त्र धारण कर लेने पर भी बिना तपश्चरण किये कोई तापस नहीं हो सकता।

बाह्य और आन्तर-आचार का यहाँ सुन्दर समन्वय किया गया है। एकान्त बाह्याचार को प्रश्रय देने वाले जैसे सन्मार्ग वेत्ता नही कहे जा सकते, उसी प्रकार बाह्याचार का निषेद करके एकान्त आन्तरिक-आचार का समर्थन करनेवाले भी गलत राह पर चलते हैं। इस प्रकार अनेकान्त दृष्टि को सामने रखकर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत गाथा में ओकार-जाप का विधान है, निषेध नही। निषेध सिर्फ उसके एकान्त का है।

ओंकार की निष्पत्ति

ओंकार की महिमा, सर्वमान्यता और व्यापकता का दिग्दर्शन कराया जा चुका है। अगर ओंकार सम्बन्धी साहित्य का समग्र संकलन किया जाय तो निश्चय ही एक विशाल ग्रन्थ तैयार हो सकता है।

इस प्रकरण मे देखना है कि 'ॐ' शब्द किस प्रकार निष्पन्न हुआ है? इस छोटी-सी गागर मे कौन-सा सागर भरा है? किस कारण मनीषी महर्षि उसके महिमागान के लिए प्रेरित हुए है? असंख्य मंत्रो मे 'ॐ' को मूर्धन्य स्थान प्रदान करनेवाला तत्त्व क्या है?

जैसा कि पहले प्रतिपादन किया जा चुका है, ओंकार विभिन्न साधना-पंथो मे लगभग सर्वमान्य है। इसी कारण उसकी निष्पत्ति भी अनेक प्रकार से की गई है। प्रत्येक निष्पत्ति उस-उस परम्परा के दृष्टिकोण की द्योतक है।

सर्वप्रथम हम जैन मान्यता को लेते है। जैन परम्परा मे परमेष्ठी-परम-पद में स्थित-देवो और गुरुओ के पांच विभाग किये गये है, जो इस प्रकार है:—

(१) अरिहन्त
(२) अशरीर (सिद्ध)
(३) आचार्य
(४) उपाध्याय
(५) मुनि (साधु)

इन पांचो परमेष्ठियो के आद्य अक्षर इस प्रकार हैं—अ–अ–आ–उ–उ–म्। व्याकरण-शास्त्र के अनुसार इन अक्षरो की सन्धि करने

पर 'ओं' शब्द निष्पन्न होता है।* इस प्रकार इस 'ॐ' पद में पांचो परमेष्ठियों का अन्तर्भाव होता है।

वैदिक परम्परा ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश, यह तीन प्रधान देव: स्वीकार किये हैं. जो क्रमश: सृष्टि के जनक पालक और प्रलय कर्त्ता है। अतएव वे ओंकार मे इन्ही तोनो का समावेश करते हैं, जो इस प्रकार है, –आ[1], शब्द ब्रह्मा का 'अ'[2] विष्णु का और 'उ'[3] महादेव का वाचक है। व्याकरण के अनुसार आ × अ × उ मिलकर 'ओ' रूप बनता है। उसको नान्यतर जाति का सूचक 'भू' प्रत्यय लगाने से 'ओ' पद निष्पन्न होता है।

किन्ही-किन्ही ने वासुदेव (विष्णु) वाचक 'अ' महेश्वरवाचक 'उ' और प्रजापति (ब्रह्मा) के वाचक 'म' के संयोग से 'ॐ' शब्द की निष्पत्ति बतलाई है[4]।

इन दोनो ही कल्पनाओं का अभिप्राय समान है। दोनों के अनुसार

---

* क (१) महानिशीथ–पत्र (२) आगमोदय समिति

ख अरिहता असरीरा आयरिया तह उवज्भया मुणिणो।
पढमक्खरणिप्फण्णो, ओंकारो पंचपरमेष्ठी ॥
—रत्नाकर ग्रन्थ
वृहदद्रव्यसंग्रह टीका पृ० १८२

१–२ 'अ:' श्रीकण्ठेऽव्ययं तुल्याभावयो: 'आ:' पितामहे।
—विश्वलोचनकोश

३—'उ:' शिवे नाव्ययं तु स्यात्सम्बुद्धो रोषभाषणे।
—पूर्वोक्त

४—अकारो वासुदेव: स्यात्, उकारस्तु महेश्वर:।
मकार: प्रजापति: स्यात्, त्रिदेवो ॐ प्रयुज्यते॥

वैदिक-सम्प्रदाय के तीनों मूर्धन्य देव 'ॐ' मे समाविष्ट हो जाते है।

कुछ विद्वानों ने 'सो ऽहं' पद से 'ॐ' की निष्पत्ति की कल्पना की है। 'सो ऽहं', भारतीय शब्द साहित्य में तो महत्त्वपूर्ण स्थान रखता ही है, जन-जीवन मे भी घुल-मिल-सा गया है। वैदिक-परम्परा में इस शब्द का बहुलता से प्रयोग होता है। जैनपरम्परा मे भी इसका प्रयोग देखा जाता है। जैन शास्त्र आचरांग सूत्र के प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक में 'सो ऽहं' प्रयुक्त* हुआ है और अन्यत्र भी। इसी 'सो ऽहं' शब्द से 'ॐ' शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार की जाती है—

सकारंञ्च हकारञ्च लोपयित्वा प्रयुञ्जते।

तात्पर्य यह है कि 'सो ऽहं' शब्द मे से 'स्' का और 'ह्' का लोप करके प्रयोग किया जाता है और जब यह दोनो व्यंजन लुप्त हो जाते है तो 'ओ' ही शेष रहता है।

स्वामी रामतीर्थ ने 'ॐ' की निष्पत्ति के सम्बन्ध मे एक कमनीय कल्पना इस प्रकार की है—

'बच्चा जन्म ग्रहण करता है, उस समय उसकी प्रथम ध्वनि, 'आ–आ–आ' निकलती है। वह जब कुछ बड़ा होता है तो 'उ–उ–उ' की ध्वनि निकलने लगती है। और जब वह कुछ और वृद्धिगत होता है और उसकी बुद्धि संकेत को समझने के योग्य विकास प्राप्त

---

* पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि,
जा व अण्णयरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि
एवमेगेसिं जं णायं भवइ अत्थि मे आया उववाइए
जो इमाओ, दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ सोहं,
सव्वाओ दिसाओ-अणुदिसाओ वा जो आगओ अणुसंचरइ सोहं।

—आचारांग १–३

कर लेती है तो अपनी माता के लिये 'म—म—म' उच्चारण करने लगता है। इस प्रकार 'अ+उ+म्' के संयोग से 'ओकार' पद निष्पन्न होता है।

इस कल्पना मे किसी उपास्य देव को स्थान नही है। इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि ओकार मानव-आत्मा की सहज स्फुरणा है, निसर्ग-जात प्रेरणा है या अन्तर मे विद्यमान शक्ति का स्वाभाविक आविष्करण है।

'ॐ' के सम्बन्ध मे ध्यान आकर्षित करने वाली एक कल्पना और है। इस कल्पना मे उसके विराट् स्वरूप का आभास मिलता है। वह इस प्रकार है—

अ—अधोलोक

ऊ—ऊर्ध्वलोक

म्—मध्यलोक

इस प्रकार तीनो लोको के वाचक शब्दो के प्रथमाक्षरो से निष्पन्न विराट्स्वरूप ओंकार का अभिप्राय यह है कि इसके चिन्तन, मनन और जाप से तीनों लोक हस्तामलकवत् हो जाते हैं, चिन्तनकर्त्ता त्रिलोकी का अधिपति बन जाता है और वह तीनो लोको के शीर्षभाग—मुक्तालय—को प्राप्त कर लेता है।

लोक यद्यपि क्षेत्र-स्वरूप है, मगर क्षेत्र और क्षेत्री के अभेद की विवक्ष से अखिल विश्व का उसमें समावेश हो जाता है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि 'ॐ' इस छोटे-से शब्द मे सभी कुछ सन्निहित है। इस कल्पना का विस्तृत विवेचन आगे किया जाएगा।

स्वामी भूमानन्द कहते हैं—'उपनिषद के कथनानुसार ओकार का उच्चारण नही हो सकता, क्योंकि वह स्वर या व्यंजन नही है और वह कंठ, होठ, नासिका, जीभ, दांत, तालु और मूर्धा आदि के योग से या उनके घात-प्रतिघात के कारण उच्चारित नही होता।

नासिका के अन्दर से जो आकर्षण क्रिया शब्दायमान होकर धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठती है, उस शब्द की ओर जरा मन लगाने पर अच्छी तरह समझ मे आ सकता है कि वह शब्द अस्पष्ट रूप से ओकार जैसा है। यह शब्द कण्ठ, तालु आदि के घात-प्रतिघात की अपेक्षा नही करता। यहां तक कि नासिकागत जो वायु उस आकर्षणात्मक क्रिया का अनुसरण करता है, उसकी भी अपेक्षा नही करता।

ओंकार का विश्लेषण करने पर जाना जाता है कि यह 'उ' और 'म' इन दोनो वर्णो की समष्टि मात्र है। यह ओकार ऊपर उठने के समय क्रम से 'उ' का परित्याग करके 'म' कार मे पर्यवसित या लीन होता है। यह अस्वर 'म' ही साधन है। इसी से उपनिषद् मे कहा है—'अस्वरेण मकारेण यदं गच्छन्त्यनामयम्'। इस अस्वर 'म' कार का शेष अंश ही प्रणव या ओंकार है और उसका निःशब्द मे लय होना ही ब्रह्मानुभूति, आत्मानुभूति, या स्वरूप प्राप्ति है।



ॐ का उद्गम

[पंचनमस्कार मंत्र]

अपवित्रः पवित्रो वा, सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा ।
ध्यायेत्पञ्चनमस्कारं, सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

—णमोकारमंत्रमाहात्म्य

जो मन्त्र संसार के समस्त मन्त्रों में मुकुट-मणि है, जो समस्त कामनाओं को कल्पतरु के समान फलीभूत करनेवाला है, लोक मे अनुपम है, जिसके जाप और ध्यान से मलिन से मलिन आत्मा भी निर्मल, निर्विकार, निरामय और निरंजन बनकर अनिवर्चनीय एवं अलौकिक ऐश्वर्य का भागी बन जाता है, त्रिलोकाधिपतित्त्व प्राप्त कर लेता है, जिसे समग्र श्रुत-सागर का अमूल्य मुक्ता माना गया है और जिसकी साधना से कुछ भी अप्राप्य नही रहता, वह महामहिम मन्त्रराज, नमस्कार मंत्र इस प्रकार है—

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं ।

अर्थात् अरिहन्तो को नमस्कार हो, सिद्धो को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायो को नमस्कार हो, लोक मे विद्यमान सर्व साधुओ को नमस्कार हो ।

इस महामंत्र मे पाँच पदो को नमस्कार किया गया है अतएव यह 'पंचनमस्कारमंत्र' कहलाता है ।

कोई मनुष्य पवित्र हो या अपवित्र, सुस्थित हो या दुःस्थित हो अर्थात् आत्मनिष्ठ हो या अनात्मनिष्ठ हो अथवा सोता-बैठा हो या चलता-फिरता हो, यदि वह पंचनमस्कार मंत्र का ध्यान करता है तो सब पापो से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

सामान्य मनुष्य की तो बात ही क्या, जो सिंह, व्याघ्र आदि तिर्यंच जन्मतः मासभक्षी है और जो सर्प आदि जन्तु स्वभाव से क्रूर हैं और जिन्होने सैकड़ों प्राणियो का हनन किया है, सहस्त्रो पापो का आचरण किया है, वे भी अन्तिम समय इस मंत्र की आराधना करके देवगति को प्राप्त करने मे समर्थ हुए।*

नमस्कारमंत्र आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक-सभी विघ्न-बाधाओं को दूर करने वाला है। अन्तःकरण में उत्पन्न होनेवाले राग, द्वेष, चिंता, शोक आदि, जड पदार्थों के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले कष्टो तथा भूत, प्रेत, राक्षस, पिशाच, डाकिनो शाकिनी, चुड़ैल आदि के द्वारा उत्पन्न होनेवाली बाधाओ को शीघ्र और समूल निवारण करने मे इस मंत्र के समान अमोघ साधन अन्य नही है। लौकिक और लोकोत्तर—दोनो प्रकार के मनोवाछित सुख इस मंत्रराज के जाप मे निवास करते हैं। आप यदि बुद्धि प्राप्त करना चाहते है, लक्ष्मी को दासी बनाना चाहते है, कीर्त्ति-कामिनी का वरण करना चाहते है, सिद्धि-वधु से सम्बन्ध स्थापित करने के अभिलाषी हैं, तो आपको इस मंत्रराज की शरण ग्रहण करनी चाहिए। ऐसी कोई लौकिक और लोकोत्तर कामना नही, जिसकी पूर्त्ति मे यह समर्थ न हो।

त्रैलोक्य मे ऐसी कोई महान् और स्पृहणीय वस्तु नही है, जो इस

---

* कृत्वा पापसहस्त्राणि, हत्वा जन्तु शतानि च।
अमुं मन्त्रं समाराध्य, तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः॥

—ज्ञानार्णव

महामंत्र के द्वारा प्राप्य न हो। अज्ञान, मोह एवं विभ्रम का जो अंधकार सहस्त्रो सूर्य नष्ट नही कर सकते, वह भी इस महामंत्र के प्रवल प्रभाव से विनष्ट हो जाता है।

यह पंच-नमस्कार जन्म-जन्मान्तर मे किए गए समस्त पापो को विनष्ट करनेवाला हैं और जगत् के सर्व मङ्गलो मे प्रथम मङ्गल है। इसकी महिमा प्रकट करते हुए कहा गया है—

जिणसासणस्य सारो,
चउदस पुव्वाण जो समुद्धारो।
जस्स मणे नवकारो,
संसारो तस्स किं कुणइ ?॥

जो जिनशासन का सार है और चतुर्दश पूर्वो से जिसका उद्धार किया गया है, ऐसा नमस्कारमंत्र जिसके मन मे स्फुरित रहता है, संसार उसका क्या विगाड़ सकता है।

एसो मङ्गलनिलओ,
भवविलओ सयलसंघसुहजणओ।
नवकारपरममंतो,
चिंतिअमित्तं सुहं देइ।

यह मंत्र मङ्गल का आवास है, भवभ्रमण का अन्त करने वाला है। परम मंत्र है और इसके चिन्तन मात्र से सुख की प्राप्ति होती है।

अघुव्वो कल्पतरु, चिंतामणि-कामकुंभ-कामगवी,
जो धायई सकलकालं, सो पावइ सिवमुहं विउलं।

नमस्कारमंत्र अपूर्व कल्पतरु, चिन्तामणि, कामकुंभ और कामधेनु के समान है। जो भद्र मनुष्य सदा इसका ध्यान करता है, वह विपुल सिद्धिमुख को प्राप्त करता है।

नवकार इक्क अक्खर, पावं फेडेइ सत्त अयराइं।
पन्नासं च पएणं, सागर पण-सय समग्गेणं।

नमस्कारमंत्र के एक अक्षर का ध्यान करने से भी सात सागरोपम काल मे किये गए पाप नष्ट हो जाते है। सम्पूर्ण महामंत्र का ध्यान करने से पाँच सौ सागरोपमो मे संचित पापो का विनाश होता है।

जो गुणइ लक्खमेगं, पूएइ विहीए जिणणमुक्कारं।
तित्थयरनामगोअं, तो पावई सासयं ठाणं।

जो पचनमस्कार मंत्र का विधिपूर्वक एक लाख वार जाप करता है, और उसका पूजन करता है, वह तीर्थंकर नाम कर्म को उपार्जन करता है और तत्पश्चात् शाश्वत धाम को प्राप्त करता है।

अट्ठेव अट्ठसया, अट्ठसहस्सं च अट्ठकोडीओ।
जो गुणइ नमुक्कारं, सो तइयभवे लहइ मोक्खं।

जो भक्त आठ करोड, आठ हजार, आठ सौ आठ वार, नमस्कारमंत्र का जाप करता है, उसे तीसरे भव मे मोक्ष प्राप्त होता है।

हरई दुहं कुणइ सुहं, जणइ जसं सोसए भवसमुद्दं।
इह लोए पर लोए, सुहाण मूलं नमोक्कारो।

नमस्कारमंत्र दु.ख को हरण करनेवाला और सुख उत्पन्न करनेवाला है। वह भव-सागर को शोषण करनेवाला और इहलोक मे तथा परलोक मे समस्त सुखो का मूल है।

भोयणसमए सयणे, विवोहणे पवेसणे भए वसणे।
पंचणमुक्कारं खलु, समरिज्जा सव्वकालंपि।

भोजन करते समय, सोते समय, जागते समय, कही प्रवेश करते समय या वैठते समय, किसी भी प्रकार का भय अथवा संकट उपस्थित होने पर सदाकाल पंचनमस्कार मंत्र का स्मरण करना चाहिए।

जैन शास्त्रों मे, प्रचुर मात्रा मे ऐसी कथाएँ विद्यमान है जिनमे नमस्कारमंत्र के अद्भुत प्रभाव और सामर्थ्य को प्रकाशित किया गया है। शूली को सिंहासन के रूप मे परिणत करके सुदर्शन श्रेष्ठी के सुयश का विस्तार करना इसी महान् मंत्र का प्रभाव था। नाग जैसे

क्रूर जन्तु को धरणेन्द्र की पदवी पर पहुंचा देने वाला यही मंत्र था। कच्चे धागों बँधी छलनी से, कुएं से पानी निकालना इसी का चमत्कार था। वास्तव में इस मंत्र के प्रभाव से सर्प भी सुमनमाला बन जाता है। विष, पीयूष के रूप मे परिणत हो सकता है और भयंकर प्राणहारी शत्रु भी मित्र बन जाते है।

नमस्कार-मंत्र अनादि कालीन मूल-मन्त्र माना गया है। भूतकाल में अनंत तीर्थंकर हुए हैं, भविष्यत् मे अनेक तीर्थंकर होंगे, परन्तु इस महामंत्र की आदि कोई नही जानता।* क्योंकि वह है ही नहीं। जिसकी सत्ता ही नही उसे कैसे जाना जा सकता है?

जैन धर्म मे साधना का केन्द्र विंदु कोई व्यक्ति विशेष नहीं। वह गुणपूंजक धर्म है। उसकी यह विशिष्टता प्रकृत मंत्र में भी पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हुई है। यहाँ किसी भी देव विशेष को या व्यक्ति विशेष को नही किन्तु आत्मिक गुणों को विकसित करने वाले—आध्यात्मिक विभूति को आविर्भूत कर लेने वाले जो भी महनीय पुरुष हैं, उनको नमस्कार किया गया है। अतएव यह मन्त्र मानव-मात्र की अनमोल निधि है, किसी पन्थ, सम्प्रदाय या परम्परा मे ही उसकी परिधि परिसमाप्त नही होती। इसी महामंत्र मे प्रतिपादित पांच वन्दनीय पदो के आद्य अक्षरों से 'ॐ' की निष्पत्ति हुई है, जैसा कि निष्पत्ति प्रकरण में बतलाया जा चुका है।

---

* आगे चौबीसी हुई अनन्ती,
होशे वार अनन्त।
नवकारतणी कोई याद न जाणे,
एम भाये अरिहन्त॥

ओंकार का जाप

प्रत्येक संसारी आत्मा अपने मूल स्वरूप मे सिद्ध है, बुद्ध है, शुद्ध है।* किन्तु अनादि-कालीन कर्म—आवरणो के कारण या यो कहिए कि वासनाओ के संसर्ग से उसकी शक्तिया विकृत, मलीन, या अविकसित अवस्था मे है। यही आत्मा और परमात्मा के भेद का कारण है। उचित उपायो द्वारा जब आवरणो का पूर्णरूप से उन्मूलन हो जाता है, वासनाओ का आत्यन्तिक क्षय हो जाता है तो सघन घनघटा के विघटित हो जाने पर जैसे सुधाकर अपने निर्मल-स्वच्छ स्वरूप मे प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी अपने शुद्ध चिन्मय स्वरूप का लाभ कर लेता है।

आत्मिक शक्तियो को मौलिक एवं स्वाभाविक स्वरूप मे प्रकट करने मे ओंकार मंत्र अत्यन्त उपयोगी होता है। योगियो का अनुभव है कि ओंकार मे आत्मशोधन की अद्‌भुत क्षमता है। यही कारण है कि इस महामन्त्र के प्रति इतनी व्यापक श्रद्धा-भावना अज्ञात काल से साधकवर्ग मे चली आ रही है।

इस मन्त्र की रचना मे अक्षरो का कुछ ऐसा विन्यास हुआ है, इस प्रकार का सामंजस्य है कि इसका विधिवत्, लालबद्धता के साथ, जाप करने से फेफडो मे श्वास वायु का आवागमन इस रूप मे होता है जिससे शरीर के आन्तरिक अङ्गोपागों की जीवनी-शक्ति मे वृद्धि होती

---

* जारिसो सिद्ध सहावो, तारिसो सहावो सव्व जीवाणं

—सिद्ध प्राभृत

है। स्वास्थ्य स्थिर होता है, वल्कि गया हुआ स्वास्थ्य भी पुनः प्राप्त हो जाता है।

अनेक मन्त्र केवल लौकिक सिद्धियां प्रदान करते है तो कुछ ऐसे भी है जो लोकोत्तर सिद्धि के कारण होते हैं, परन्तु ओंकार मे दोनो प्रकार की सिद्धियां प्रदान करने की क्षमता है। आचार्य हेमचन्द्र ने वतलाया है कि—स्तम्भन कार्य मे पीत वर्ण के, वशीकरण से लाल वर्ण के, शोभण कार्य में मूंगे के वर्ण वाले, विद्वेषण-कार्य मे काले वर्ण के और कर्मों का प्रक्षय करने के लिए चन्द्रमा के समान उज्जवल श्वेत वर्ण ओंकार का ध्यान करना चाहिए। इस विधान से स्पष्ट है कि ओंकार का ध्यान न केवल कर्मक्षय के लिए ही उपयुक्त है वरन् विस्मय जनक लौकिक उद्द्देश्यो की भी पूर्त्ति करता है।*

यो तो पुरुषार्थ चार माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, किंतु इनमे साध्यभूत दो ही हैं—काम और मोक्ष। धर्म, मोक्ष का और अर्थ काम का साधन है। काम का अभिप्राय लौकिक सिद्धि और मोक्ष का मतलव लोकोत्तर आध्यात्मिक सिद्धि समझना चाहिए। ओंकार को विद्वज्जन 'कामदम्' भी मानते हैं और 'मोक्षदम्' भी। इसका भी अभिप्राय यही निकलता है कि ओंकार के ध्यान से लौकिक और लोकोत्तर—दोनो प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

ओंकार के ध्यान की विधि पर प्रकाश डालते हुए यही मुनि कहते है—हृदय-कमल के मध्य में स्थित, शब्द ब्रह्म-वचन विलास की उत्पत्ति के अद्वितीय कारण, स्वर तथा व्यंजन से युक्त, पंचपरमेष्ठी के वाचक

---

* पीतं स्तम्भेऽरुणं वश्ये, क्षोभणे विद्रुमप्रभम्।
कृष्णं विद्वेषणे ध्यायेत्, कर्मघाते शशिप्रभम्॥
—योगशास्त्र, ८-३१

एवं मूर्धा मे स्थित चन्द्रकला से झरने वाले अमृत के रस से महामन्त्र प्रणव ओंकार का कुम्भक प्राणायाम करके ध्या चाहिये।‡

---

‡ तथा हृत्पद्ममध्यस्थं, शब्द ब्रह्मैक कारणम्।
स्वर व्यञ्जनसंवीतं, वाचक परमेष्ठिनः।
मूर्धसंस्थित शीतांशु-कलामृतरस प्लुतं।
कुम्भकेन महामन्त्रं, प्रणवं परिचिन्तयेत्॥

—योग शास्त्र, ८–२९–३०



[७]

जप साधना

अपने अभीष्ट मन्त्र अथवा इष्टदेव के नाम का पुनः-पुनः रटन करना जाप कहलाता है। ध्यान में मानसिक एकाग्रतापूर्वक मनन-क्रिया की प्रधानता होती है, जबकि जप मे शब्दोच्चार रटन की मुख्यता है। किन्तु शब्दोच्चार की प्रधानता का आशय यह नही समझना चाहिये कि उसमे मानसिक-अवधान की आवश्यकता नही अथवा एकाग्रता के लिए कोई स्थान नही। मानसिक अवधानहीन शब्दोच्चार मात्र फलप्रद नही होता। अतएव ध्यान की भांति जप मे भी मन की स्थिरता अपेक्षित है। जप और ध्यान मे जो भिन्नता है, वह मन की स्थिरता के तार-तम्य को लेकर ही है। अतएव जिस साधक का मन जितना अधिक एकाग्र होगा, उसका जप उतना ही अधिक फलप्रद होगा।

"तो क्या मानसिक एकाग्रता की सिद्धि के विना जप करना ही नही चाहिये ?"

ऐसी बात नही है। जप वस्तुतः मानसिक एकाग्रता के अभ्यास का साधन है। जिस साधक का मन पर अंकुश स्थापित हो चुका है और जो उसे किसी भी एक वस्तु पर टिका सकता है, उसके लिये ध्यान की साधना अधिक उपयोगी है। किन्तु जिनकी भूमिका अभी निम्न श्रेणी की है, और जो साधना पथ पर नये ही नये अवतीर्ण हुए है, जो मन को निगृहीत करने मे अपने को असमर्थ पाते है, उन्हे जप साधना करना हितावह है। पवित्र शब्दो के सहारे मन को स्थिर करते करते अन्ततः ध्यानयोग की सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

कुछ लोग कहते हैं कि शब्द कितने ही पवित्र क्यों न हो, वारंवार

उनकी पुनरावृत्ति करने से क्या लाभ है ? मगर ऐसा कहनेवाले जप के अर्थ को सही तौर पर समझे नही हैं। जैसा कि अभी कहा जा चुका है, जाप मे केवल शब्दोच्चार नही होता, उसमे मानसिक विचारो का भी योग होता है। जप के शब्द जिह्वा ही उगलती जाती हो, ऐसी बात नही है। आदर्श जप वही है, जिसमे रसना और अन्तःकरण दोनो एकाकार हो जाते हैं। अतएव जिह्वा द्वारा पुनः २ उच्चारित शब्द और अन्त.करण द्वारा ग्रहण किया हुआ उनका प्रतिविम्व अन्तरतर मे एक अद्भुत संस्कार उत्पन्न कर देता है। वह संस्कार वार-वार के अभ्यास से पुष्ट, वलिष्ठ, और गम्भीर होता जाता है।

करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते, सिल पर परत निशान ॥

विद्यार्थी एक ही वार किसी पाठ को पढकर पाण्डित्य प्राप्त नही कर सकता। पाषाण-शिला पर एक वार रस्सी रगड़ देने मात्र से निशान नही वनता। इसी प्रकार एक वार किसी शब्द का उच्चारण कर लेने से ही न चित्त समाहित हो सकता है और न निमित्त संस्कार वद्धमूल हो सकता है। अतएव पावन विचारो की अजस्र धारा प्रवाहित करने के लिए, उन विचारो को संस्कार का स्वरूप प्रदान करने के लिये और उन संस्कारो से अनुप्राणित होकर जीवन मे दिव्यता, भव्यता और विशुद्धता लाने के लिये प्रभु का नाम वारम्वार उच्चारण करना अनिवार्य है। सामान्य साधक के लिये इससे अधिक उत्तम अन्य कोई साधन नही है। जप साधना मे अग्रसर होता हुआ साधक ध्यानयोग मे शनैः शनैः पराकाष्ठा प्राप्त कर लेता है और जन्म-मृत्यु के अनादिकालीन विषम चक्र से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

'ज–प' शब्द मे जो दो अक्षर है—'ज' और 'प'। विद्वान् 'ज' को जन्म का विनाशक और 'प' को पाप विनाशक मानते हैं।* जन्म

---

* जकारो जन्मविच्छेदः, पकारः पापनाशकः।
तस्माज्जप इति प्रोक्तः, जन्म पाप विनाशकः ॥ —आग्नेय पुराण

मरण और पाप का अन्त तब ही सम्भव है जब उल्लिखित प्रकार से जप की साधना की जाए।

जैसे रसायन के सेवन से शारीरिक शक्ति मे वृद्धि होती है, उसी प्रकार जप साधना से सत्संस्कारो का निर्माण और संवर्धन होता है।

जैसे, विषहरण जड़ी से सर्प का विष निश्शेष हो जाता है, उसी प्रकार जप-साधना से मिथ्या दृष्टि और पापवृत्ति का विष उतर जाता है।

जैसे १०५ डिग्री ताप से तप्त व्यक्ति के मस्तक पर बर्फ की पट्टी बांधने से ताप मन्द हो जाता है, उसी प्रकार जप साधना से अन्तःकरण का संताप मिट जाता है और आत्मा मे अपूर्व उपशमभाव का प्रादुर्भाव होता है।

जैन धर्म में तपश्चरण के बारह प्रकार बतलाए गए हैं; जिनमे अनशनादि ६ बाह्य तप है और विनय आदि ६ अन्तरंग है, जप वस्तुतः तप के अन्तर्गत है और उसमे भी स्वाध्याय तथा ध्यान नामक अन्तरंग तपो मे। जप का शाब्दिक रूप स्वाध्याय के अन्तर्गत है तो मानसिक एकाग्रता-रूप अंश ध्यान की कोटि में समाविष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार जप दो प्रकार के जपों का सम्मिश्रण है। तप का प्रभाव और महात्म्य अचिन्त्य है। उससे पूर्व संचित कर्मजाल छिन्न-भिन्न हो जाता है और नवीन कर्मों का आगमन रुक जाता है। जैन साहित्य के पारिभाषिक शब्दों मे यही निर्जरा और संवर है जो मुक्ति का साक्षात् कारण है। स्पष्ट है कि जप मुमुक्षु जनो के लिए अतीव श्रेयस्कर है।

गीता में 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' कहकर जप की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। टीकाकार मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि हिंसादि दोषो से शून्य होने के कारण जपयज्ञ अत्यन्त विशोधक है।

श्रीपादलिप्त सूरि ने जप के तीन प्रकार बतलाए हैं—(१) भाष्य (२) उपांशु और (३) मानस*। यशस्तिलकचम्पू ग्रन्थ में भी यही तीन प्रकार प्रतिपादित किए गए हैं, मगर उन्होंने 'भाष्य' जप के लिए 'वाचक' शब्द का प्रयोग किया है। शब्दभेद होने पर भी अर्थ दोनों का एक ही है। भाष्य अथवा वाचक जप मे शब्दोच्चारण की प्रधानता होती है। जिस जप के शब्दो को समीपवर्ती दूसरे लोग सुन सकें, वह भाष्य जप है। जिस जप मे स्पष्ट शब्दोच्चार न होकर सिर्फ अन्तर्जल्प होता है, जिसे दूसरा सुन नही सकता, उपांशु जाप कहलाता है। जो जाप वहिर्जल्प और अन्तर्जल्प दोनो से रहित होता है, और जिसमे चिन्तन का स्पष्ट रूप प्रकट होने लगता है, वह मानस जप कहलाता है।

जप के इन तीन प्रकारो पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि यह भेद वास्तव मे जप की तीन श्रेणिया ही हैं, जो साधक की योग्यता के आधार पर वर्णित की गई हैं। प्रारम्भिक अवस्था मे साधक का जप वाचिक होता है, उसमे मानस-अवधान की गहराई नही आ पाती। मगर लगातार के अभ्यास से वह कुछ आगे बढ़ता है—दूसरे सोपान पर आरूढ होता है। तब शब्दो मे और मानसिक अवधान मे जैसे सामंजस्य स्थापित हो जाता है। इसके अनन्तर साधक तीसरे सोपान पर आरूढ होकर मानस जप करने मे सक्षम बन जाता है।

जप के ये प्रकार उत्तरोत्तर प्रकृष्ट और अधिकाधिक फलदायक होते हैं। भाष्य से उपांशु और उपांशु की अपेक्षा मानस जाप क्रमशः शतगुणित और सहस्रगुणित फलप्रद होते हैं।‡ वस्तुतः मानस जप

---

* प्रतिष्ठा कल्पपद्धति

‡ वचसा वा मनसा वा, कार्यो जाप्यः समाहित स्वान्ते।
शतगुणमाद्ये पुण्ये, सहस्रसंख्यं द्वितीये तु॥

से ही ध्यान की साधना का प्रारम्भ होता है।

जप का सरल एवं प्राथमिक साधन माला है। माला मे पंचपरमेष्ठी के १०८ गुणो के योग रूप १०८ मणियाँ होती हैं; एक वार अभीष्ट मन्त्र का उच्चारण करके एक वार मणिया सरका दिया जाता है और इस विधि से जप की संख्या निश्चित हो जाती है। जिस साधक के चित्त मे विक्षेप की बहुलता होती है या जिसकी स्मरण शक्ति कमजोर होती है, उसके लिये माला के सहारे जप करना ही अधिक उपयोगी है। परन्तु चित्त की एकाग्रता की दृष्टि से अपनी अंगुलियो के पर्वो पर जप करना अधिक अच्छा है।

किस अंगुली के किस पर्व से जाप आरम्भ किया जाय और किस अनुक्रम से आगे बढ़ा जाय ? इस संबंध मे कोई एक निश्चित नियम नही है। विभिन्न प्रयोजनो की सिद्धि के लिए विभिन्न अंगुलियों से जप आरम्भ करने का विधान मिलता है। मारण-उच्चाटन आदि निकृष्ट प्रयोजन वाले अंगुष्ठ से और शत्रु-संहार की दुष्ट भावनावाले तर्जनी से जप आरंभ करते हैं। किंतु मुमुक्षु साधक को इस प्रकार की मलीमस भावना को हृदय मे स्थान नही देना चाहिए। उसका जप तो पारमात्मिक गुणो की अभिव्यक्ति के एकमात्र विशुद्ध उद्देश्य से ही होना चाहिये। इस उद्देश्य के लिए अनामिका अंगुली से जाप प्रारम्भ करना प्रशस्त माना गया है।

अंगुली के पर्वों से जप करना आवृत्त जप कहलाता है। साधारणतया आवृत्त पांच प्रकार के है—

१ आवृत्त
२ शंखावृत्त
३ नन्दावृत्त
४ ओवृत्त
५ ह्रीवृत्त

आवृत्त:—अपने दाहिने हाथ की कनिष्ठिका अंगुली के नीचे के पर्व से आरम्भ करके तीनो पर्व गिनें, फिर अनामिका, मध्यमा और तर्जनी के ऊपरी तीन पर्वो की गणना करे तत्पश्चात् तर्जनी का मध्य और, नीचे का पर्व, मध्यमा का नीचे का पर्व, अनामिका का मध्य पर्व और फिर मध्यमा का मध्यम गिने। नौ वार इस प्रकार जप करने से १२×९=१०८ संख्या होता है। यह आवृत्त शीघ्र ही शान्ति तुष्टि और पुष्टि करनेवाला माना जाता है।

शंखावृत्त:—मध्यमा अंगुली के मध्यम पर्व से आरम्भ करें, फिर अनुक्रम से अनामिका का मध्य पर्व, अनामिका का नीचे का पर्व, कनिष्ठिका का मूल, मध्यम और ऊपरी पर्व फिर अनामिका का ऊपरी पर्व, मध्यमा का ऊपरी पर्व, तर्जनी का ऊपरी, मध्यम और निचला पर्व गिने। इस प्रकार गणना करने से शंखावृत्त होता है।

इस आवृत्त से जाप करनेवाला दैवी उपद्रवो से पीडित नही होता। उसकी मनोकामना पूर्ण होती है। सुख, शांति और धैर्य प्राप्त करने के लिए यह आवृत्त उपयोगी माना जाता है।

नन्दावृत्त:—इसकी गणना का उपक्रम इस प्रकार है:—तर्जनी के ऊपर का, मध्य का और नीचे का पर्व, मध्यमा के नीचे का, अनामिका के नीचे का, मध्य का, और ऊपर का, और फिर मध्यमा के ऊपर का तथा मध्यमा के मध्य का पर्व।

इस आवृत्त मे कनिष्ठिका अंगुली त्याज्य है, अतएव बारह बार उक्त क्रम से आवृत्ति करने पर एक माला पूर्ण होती है।

यह आवृत्त विशेष रूप से मांगलिक माना गया है। इसके जप से शांति, तुष्टि, पुष्टि और आरोग्य की प्राप्ति होती है।

ॐ आवृत्त:—इसका जाप मध्यमा अंगुली के मध्यम पर्व से आरंभ

होता है। तदन्तर अनामिका का मध्यम पर्व, अनामिका का ऊपरी पर्व, मध्यमा का ऊपरी, तर्जनी का ऊपरी, मध्यम और नीचे का पर्व, मध्यमा के नीचे का, अनामिका के नीचे का, कनिष्ठा के नीचे का, मध्य का और ऊपर का पर्व गिनना चाहिए।

इस आवृत्त का दूसरा अनुक्रम भी है, जो इस प्रकार है:—अनामिका के मध्यम पर्व से आरम्भ करके, मध्यमा का मध्यम पर्व, मध्यमा का नीचे का पर्व, अनामिका का नीचे का पर्व, कनिष्ठा के नीचे का, मध्य का, और ऊपर का पर्व, अनामिका का ऊपरी, मध्यमा का ऊपरी, तर्जनी का ऊपरी, तर्जनी का मध्य का, और नीचे का पर्व गिनना चाहिए।

ॐ आवृत्त का तीसरा गणना प्रकार भी है। वह द्वादश अङ्कों के बदले नव अङ्को मे भी गिना जाता है। लेकिन उसका महत्त्व अधिक नही माना जाता। वह इस प्रकार है:—मध्यमा का मध्यम पर्व, अनामिका का मध्य पर्व, अनामिका के नीचे का, मध्यमा के नीचे का, तर्जनी के नीचे का- मध्य का और ऊपर का, मध्यमा के ऊपर का, अनामिका के ऊपर का और कनिष्ठा के ऊपर का, मध्य का और नीचे का।

जब यही आवृत्त नव अङ्कों मे गिना जाता है तो अनुक्रम इस प्रकार होता है:—मध्यमा का मध्यम, मध्यमा का ऊपरी, तर्जनी के मध्य का, मध्यमा के नीचे का, अनामिका के मध्य का, तर्जनी के ऊपर का, तर्जनी के नीचे का, अनामिका के नीचे का और अनामिका के ऊपर का।

ह्रीं आवृत्त:—सर्व प्रथम तर्जनी का ऊपरी पर्व, फिर मध्यमा का ऊपरी, अनामिका का ऊपरी, कनिष्ठिका का ऊपरी, कनिष्ठिका का मध्यम, अनामिका का मध्यम, मध्यमा का मध्यम, तर्जनी का मध्यम, तर्जनी का निचला, मध्यमा का निचला, अनामिका का निचला और कनिष्ठिका का निचला पर्व गिनना चाहिए।

ॐकार महामन्त्र का जाप करने के लिए ॐ आवृत्त सर्वोत्कृष्ट है। माला के द्वारा या ॐ आवृत्त के द्वारा ही इसका जाप करना चाहिए।

माला और आवृत्त के अतिरिक्त तीसरी जप विधि भी है जो कमल विधि कहलाती है। इसमे हृदय प्रदेश मे एक श्वेत वर्ण कमल का चिंतन किया जाता है। कमल मे आठ पाखुंड़ियो और प्रत्येक पाखुड़ी पर बारह-बारह पीत-वर्ण बिन्दुओ की कल्पना करके उनका चिन्तन किया जाता है। किन्तु यह विधि पहुचे हुए साधको के लिये ही उपयुक्त है, साधारण श्रेणी के साधकों के लिए नही। अतएव इसका उल्लेख मात्र ही यहा कर दिया गया है।



द्विविध साधना

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर अखिल विश्व एक साधना-सदन-सा प्रतीत होता है। कौन ऐसा प्राणी है जो कामनामय न हो? छोटा हो या बड़ा, सशक्त हो या अशक्त, विकसित हो या अविकसित, महाप्राण हो या अल्पप्राण, यहां तक कि योगी हो या भोगी, सभी मे किसी न किसी प्रकार की कामना विद्यमान है। प्रत्येक जीव की प्रत्येक प्रवृत्ति किसी न किसी कामना से प्रेरित ही होती है और कामना की पूर्ति के लिये किया जानेवाला उपाय या पुरुषार्थ ही साधना है। जहां कामना है वहां साधना है। जब तक कामना है तब तक साधना है। कामना से मुक्ति मिले बिना साधना की समाप्ति नही होती। अतएव जगत् के समस्त प्राणी साधना में निरत है।

किन्तु पूर्वकाल मे अर्जित, संचित एवं सिंचित संस्कारो की और वर्तमानकालीन वातावरण तथा तज्जनित विचारों की विभिन्नता आदि के कारण सबकी कामनाएँ एक-सी नहीं होती। जब काम्य भिन्न प्रकार के होते है, तो उनकी उपलब्धि के उपायो एवं साधनो मे भी भिन्नता होना स्वाभाविक है।

मूल रूप मे कामनाएँ दो प्रकार की है—लौकिक और लोकोत्तर। संसार के अधिकाश प्राणी लौकिक कामनाओ से ग्रस्त है। कोई धन-सम्पत्ति के लिये समय-असमय का विचार न करके दिन-रात पच रहा है तो कोई सत्ता और प्रभुता की प्राप्ति के लिए जमीन-आसमान एक कर रहा है। कोई गगन-चुम्बी प्रासाद का स्वप्न देखता है तो कोई पत्नी-पुत्र-परिवार आदि की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील है। तात्पर्य यह है कि लोग भौतिक पदार्थों को जुटाने मे ही संलग्न दृष्टिगोचर होते है। ऐसे लोगो का काम्य लौकिक-भौतिक होने से उसके लिए किया जाने वाला पुरुषार्थ भी लौकिक साधना के अन्तर्गत है।

मगर इस प्रकार की साधना वास्तविक साधना नही कही जा सकती। प्रथम तो प्रचण्ड से प्रचण्ड पुरुषार्थ करने वालो मे से भी बहुतो को अभीष्ट सिद्धि-सफलता प्राप्त ही नही होती, कदाचित् प्राप्त हो जाय तो उनका अभीष्ट बदल कर दूसरा ही रूप धारण कर लेता है। मानव की कामना मे स्थिरता नही होती। एक कामना की पूर्ति होते न होते दूसरी अनेक कामनाएँ उत्पन्न होती जाती है। जैसे अपनी प्रतिच्छाया को पकड़ लेना और क्षितिज को छू लेना सम्भव नही, उसी पकार अनियंत्रित कामनाओं की पूर्ति होना असंभव है। इस प्रकार एक कामना की पूर्ति होने पर सुख-सन्तोष के बदले नवीन उत्पन्न अनेक अपूर्ण कामनाएँ, चिन्ताएँ, उद्विग्नताएँ ही पैदा करती हैं।

मान लीजिये—किसी की कामना ने एक सीमा का निर्माण कर लिया और वह पूर्ण भी हो गई है। वह अब सुखी है, सन्तुष्ट है। परन्तु क्या उसका सुख और सन्तोष शाश्वत है? जिन भौतिक पदार्थो के संयोग पर उसके सुख-सन्तोष का भव्य-भवन खड़ा हुआ है, उनके विनष्ट होते कितने क्षण लगते है? परिस्थिति का एक ही झंझावात क्या उसे क्षण भर-मे विलग नही कर देता? तब मनुष्य का वह मधुर-स्वप्न पल-भर मे समाप्त हो जाता है और वह एक करुण दारुण वेदना से अभिभूत होकर कराहता रह जाता है।

चलिए, यह भी मान लें कि उसकी सुख-सामग्री स्थायी है और पुण्य के दृढ वन्धन से आवद्ध होने के कारण उससे विलग नही होती, परन्तु उसका जीवन तो ध्रुव नही है। एक दिन आता है कि वह स्वयं उसे छोडकर किसी अज्ञात रहस्यमय पथ का पथिक वन जाता है और जहा जाता है वहां नये सिरे से अपनी सृष्टि रचता है। पहले का किया-कराया सव धूल मे मिल जाता है।

अव लोकोत्तर साधना के सम्वन्ध मे विचार करें। आध्यात्मिक उत्कर्ष की उपलब्धि के लिए किये जाने वाले उपाय एवं प्रयास लोकोत्तर

साधना है। आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त करने का अभिप्राय किसी बाह्य-पर-पदार्थ या उसके आधार पर वैशिष्ट्य प्राप्त करना नहीं है। क्योंकि वे आध्यात्मिक उत्कर्ष की प्राप्ति मे बन्धक हो सकते हैं, साधक नही।

आध्यात्मिक उत्कर्ष का अर्थ आत्मा की सहज स्वाभाविक शक्तियो का आविर्भाव करना है। वस्तुतः आत्मा और परमात्मा के स्वरूप में कोई मौलिक अन्तर नही है। जो आत्मा प्रकृष्ट साधना के बल से कर्मावरणों को छिन्न-भिन्न करके अपने असली स्वरूप की प्राप्ति कर लेता है—परिपूर्ण वीतरागतत्त्व प्राप्त करके अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य का लाभ कर लेता है, वही परमात्पद का भागी हो जाता है।

लोकोत्तर साधना की सिद्धि के लिए भौतिक पदार्थों के आकर्पण से मुक्त होना और अर्न्तमुख बनना आवश्यक है। साधक भलीभाति जानता है कि पर-पदार्थो के संयोग मे सुख समझने की अनादिकालीन भ्रान्ति ही दुःखों का बीज है। उनके प्रति जितना अधिक आकर्पण या अनुराग होगा, उतनी ही आकुलता और इतना ही अधिक क्षोभ उत्पन्न होगा। 'पर' के अवलम्बन मे दैन्य है, दुःख है। आनन्द तो आत्मा का ही स्वभाव है और इनकी प्राप्ति आत्मोन्मुख होने में ही है।

इस परम सत्य को हृदयङ्गम कर लेने के कारण साधक बाह्य सुख-साधनों से विरत और आत्म-मरण में निरत हो जाता है। वह जब अपने अन्तरतर की गहराई में डुबकी लगाता है तो उसे अपने ही अन्दर अनंत आनन्द का लहराता हुआ सागर दिखाई देता है। इस प्रकार भौतिक वस्तुओ के प्रति उसका अनुराग एवं आकर्पण क्षीण होता जाता है और सहज स्वरूप के प्रति आकर्पण बढता चला जाता है। शनैः २ उसे पूर्ण आत्मनिष्ठा प्राप्त होती है। वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और परमज्योति-स्वरूप बन जाता है। यही सिद्धि है, यही मुक्ति है।

यह सिद्धि परम और चरम है, क्योंकि परपदार्थ की अपेक्षा न होने से वह शाश्वत है, अनन्त है और उसमें किंचित् भी अपूर्णता नही होती।

तात्पर्य यह है कि लौकिक सिद्धि क्षणिक होती है, लोकोत्तर सिद्धि शाश्वत। लौकिक सिद्धि अनेक आकुलताओं की जननी है, लोकोत्तर सिद्धि अनन्त निराकुलता को उत्पन्न करती है। लौकिक सिद्धि से आत्मा का भव-भ्रमण बढ़ता है, लोकोत्तर सिद्धि जन्म-मरण के चक्र-व्यूह से बाहर निकाल देती है। एक बार उसे प्राप्त कर लेने के पश्चात् कुछ भी प्राप्य नहीं रह जाता। ध्रुव कृतकृत्यता और निष्काम प्रदान करती है।

इसी कारण विश्व के मनीषी लोकोत्तर साधना में ही परम निश्रेयस् मानते हैं।



साधना की समग्रता

'साधना' शब्द से यहां लोकोत्तर साधना ही अभिप्रेत है, क्योंकि वही साधक को कृतार्थता प्रदान करती है।

प्रश्न यह है कि जिस साधना से आत्मा को पारमात्मिक गुणों की प्राप्ति होती है, आत्मा के समस्त दुःखो की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है और वह अपनी असीम समृद्धि के अक्षय कोष का अधिकारी बन जाता है, उसका स्वरूप क्या है?

इस प्रश्न पर विचार करते है तो अनेक दृष्टिकोण हमारे समक्ष उपस्थित होते है। उनमे से एक बहुप्रचलित दृष्टिकोण साधना के तीन रूप स्वीकार करता है—ज्ञान, कर्म और भक्ति।* शास्त्रों का श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान, समाधि आदि का अवलम्बन ज्ञानमार्ग है। निष्काम भाव से अपने-अपने वर्ण और आश्रम के अनुरूप अनुष्ठान करना कर्ममार्ग है। इसमे दान, यज्ञ-याग, जप, तप, व्रत, नियम आदि कर्त्तव्यो का समावेश होता है। चित्तवृत्ति का निरन्तर अविच्छिन्न रूप से भगवान् मे लगा रहना अथवा भगवान् मे अनुराग या अनन्य प्रेम होना भक्ति है। प्रभु का स्तवन, संकीर्त्तन, गुणगान आदि भक्ति मे ही अन्तर्गत है।

बौद्धधर्म भावना-प्रचय को मुक्ति का साधन मानता है। अखिल विश्व क्षण विनश्वर है, दुःखमय है, अशुचि है, पुनः-पुनः इस प्रकार का चिन्तन करने से भावनाप्रचय होता है। इसमे चित्त की समलता का

---

* योगास्त्रयो मया प्रोक्ता, नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च, नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
—भागवत, ११-२०-६

विनाश और निर्मलता का विकास होता है और निर्वाण की प्राप्ति होती है।

सांख्य नैयायिक आदि कतिपय दर्शन तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति-लाभ का प्रतिपादन करते हैं।

इस प्रकार साधना के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। किन्तु उक्त तीन मार्गों में ही किसी न किसी रूप में सब का समावेश हो जाता है। मगर देखना यह है कि क्या उक्त तीन मार्ग परस्पर निरपेक्ष होकर साधक को उसके लक्ष्य तक पहुँचा सकते हैं? क्या ज्ञान, कर्म और भक्ति तीन मार्ग हैं अथवा तीनों का समन्वित रूप एक साधनामार्ग है? कतिपय लोगों की धारणा है कि उपर्युक्त तीन साधनों में से किसी भी एक साधन के द्वारा मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। मगर यह धारणा न तो तर्क से और न अनुभव से ही समीचीन प्रतीत होती है। कर्म यदि सुविहित-सुआख्यात हो तो भी वह ज्ञान-निरपेक्ष होकर कार्यकारी नहीं हो सकता। इसी प्रकार क्रियाशून्य ज्ञान भी सिद्धिप्रद नहीं हो सकता।

यह सत्य है कि सभी मुमुक्षु साधकों की रुचि, योग्यता या पात्रता एक-सी नहीं होती। एक ही साधक का स्तर भी सदैव समान नहीं रहता और शास्त्रकारों ने सभी को साधन सुलभ करने का प्रयत्न किया है। तथापि इससे साधना के स्तर में ही भेद हो सकता है, मार्ग में नहीं। प्रत्येक कार्य की निष्पत्ति किसी एक कारण से कदापि नहीं होती, उसके लिये कारणों की समग्रता अनिवार्य है। इस नियम के अनुसार मुक्ति प्राप्त करने के लिये जिन कारणों की अनिवार्य आवश्यकता है, उनकी समग्रता ही साधना का राजमार्ग हो सकता है।

जैन धर्म प्रत्येक क्षेत्र में अनेकान्तवाद को प्रश्रय देता है, क्या तत्त्व-दर्शन के क्षेत्र में और क्या साधना-क्षेत्र में, उसका दृष्टिकोण सदा-सर्वदा अनेकान्तात्मक ही रहता है। इस दृष्टिकोण के अनुरूप उसने सम्यग्ज्ञान

और सम्यक्-क्रिया को सम्मिलित को साधना का स्वरूप स्वीकार किया है।* वस्तु-स्वरूप को जान लेने मात्र से अथवा अनजाने क्रिया करने मात्र से सामान्य लौकिक सिद्धियां भी प्राप्त नही की जा सकती तो अनादिकालीन विकार-संस्कारो की गहरी जडो का उन्मूलन कैसे किया जा सकता है ? आत्मिक विकास की उच्चतम भूमिका किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है ?

जो रोगी निरोग होना चाहता है, उसे रोग के स्वरूप को समझना पड़ेगा, रोग के कारणों को जानना पड़ेगा और उसके निवारण के लिए उपयुक्त औषध को भी समझना होगा। किंतु यह सब जान लेने से ही नीरोगता प्राप्त नही की जा सकती। उसके लिए औषध का सेवन भी करना पड़ता है।

स्पष्ट है कि न तो औषध के ज्ञान मात्र से आरोग्य लाभ किया जा सकता है और न अनजाने किसी भी औषध के सेवन से ही। आरोग्य लाभ के लिए औषध का ज्ञान और सेवन दोनो जैसे अनिवार्य है, उसी प्रकार आत्म शुद्धि के लिये ज्ञान और क्रिया की आवश्यकता होती है।

आचार्य शय्यंभव ने दशवैकालिक सूत्र मे साधना का अनुक्रम प्रदर्शित करते हुए कहा है—‡

साधक के लिए आवश्यक है कि वह प्रथम सम्यग्ज्ञान प्राप्त करें, फिर तदनुकूल अनुष्ठान को अपनाएँ क्योकि अज्ञानी प्राणी अपने श्रेयस अश्रेयस को नही समझ सकता।

जो साधक जड़-चेतन के भेद को नही जानता वह संयम को भी नही जान सकता। संयम के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये जड़ और चेतन के स्वरूप का भान होना अनिवार्य है।

---

* नाणकिरियाहिं मोक्खो।

‡ देखिये दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ४ गाथा १०–२५।

जड़-चेतन का स्वरूप परिज्ञान हो जाने पर ही जीवो की नाना गतियो एवं योनियो का परिज्ञान होता है और तब पुण्य और पाप की कसौटी हाथ लगती है।

जब पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्ष की कसौटी हाथ आती है तो साधक के चित्त को दैवी और मानवी भोगो के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो जाती है।

जब भोग के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो जाती है तब साधक बाह्य-संयोग-धन-धान्य, पुत्र कलत्र आदि और आभ्यान्तर संयोग—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि–का त्याग कर देता है।

बाह्याभ्यन्तर संयोग का त्याग कर देने पर प्रव्रज्या अङ्गीकार करता है, तदन्तर उत्कृष्ट संवर एवं अनुत्तर धर्म की आराधना करके कर्म-रज को हटा देता है और सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होकर परमात्मपद प्राप्त करता है।

परमात्मपद प्राप्त होने पर आत्मा जीवन्-मुक्त दशा का अनुभव करने लगता है और फिर अनुक्रम से विदेह मुक्ति प्राप्त करता है।

इस प्रकार ज्ञानार्जन से प्रारम्भ हुई साधना क्रियात्मक बनकर विदेह-मुक्ति में पर्यवसित होती है।

अनेकान्तवाद का यह समन्वयवादी स्वर जैन परम्परा की परिधि में ही नही घिरा रह सका। बाहर भी उसकी गूंज सुनाई देती है। महर्षि हारीत ने भी उसी स्वर को दोहराते हुए कहा है—जैसे पंछी आकाश मे दोनो पंखो के सहारे ही गति कर सकता है, एक पंख से नही, उसी प्रकार शाश्वत ब्रह्म की उपलब्धि ज्ञान और क्रिया के समुचित समन्वय से ही सम्भव है।*

कुछ लोग समझते हैं कि अकेले ज्ञान से या कर्म से या अकेली भक्ति से साधना सफल हो सकती है, वे भ्रम मे है।

---

* उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणा गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां, प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम्॥

—हारीतसंहिता

वह बटोही कैसे अपनी मंजिल तक पहुँचेगा जिसे यही मालूम नहीं कि मंज़िल क्या है, कहाँ है ? मंजिल तक पहुंचने की राह कौन-सी है ? जो नेत्र बन्द करके चला जा रहा है और चलता ही जा रहा है, वह जीवन पर्यन्त चलने के पश्चात् भी अन्त में असफलता का ही भागी होता है।

इसी प्रकार जो साध्य के स्वरूप को समझता है, साधनों से भली-भांति अभिज्ञ है और पथ से परिचित है, अपने प्रखर पाण्डित्य से साधना के सम्बन्ध में प्रभावशाली प्रवचन करके दूसरों का पथ-प्रदर्शन कर सकता है, वह यदि साधना के पथ पर एक डग भी नहीं रखता तो किस प्रकार सम्भव है कि वह अपनी मंजिल तक पहुंच सकेगा ?

जैनागमों में कहीं २ ज्ञान और क्रिया (चारित्र) के साथ सम्यग्-दर्शन को भी साधना का अङ्ग स्वीकार किया गया है‡ और कहीं सम्यक्तप को सम्मिलित करके साधना का चतुर्मुखी स्वरूप माना गया है† किंतु इसमें विरोध जैसी कोई वस्तु नहीं है। यह विभिन्न योग्यता के पात्रों को समझाने की शैली है। सम्यग्दर्शन का ज्ञान में और तप का क्रिया में समावेश होता है। कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार में प्रति-पादन करना सहृदय शास्त्रकारों की पद्धति रही है।

उल्लिखित ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग भी सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक्तप में समाविष्ट हो जाते हैं। ज्ञानमार्ग सम्यग्ज्ञान में, कर्ममार्ग सम्यक्चारित्र में और भक्तिमार्ग सम्यक् तप में समाविष्ट है।

---

‡ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

—तत्वार्थ सूत्र

† नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एयमग्गमणुप्पत्ता जीवा गच्छंति सोग्गइं॥

—उत्तरा० २८-३

हाँ, यह नही भूल जाना चाहिए कि जैनधर्म का अपना एक विशिष्ट मौलिक और उदार दृष्टिकोण है। अपने दृष्टिकोण के वैशिष्ट्य के कारण उसकी कर्म आदि की व्याख्याएँ भी विशिष्ट है।

जैनधर्म आश्रम व्यवस्था को स्वीकार नही करता और वर्ण व्यवस्था को सिर्फ सामाजिक व्यवस्था मानता है। वह मानव-मानव के बीच कोई जन्मजात उच्चता-नीचता स्वीकार नही करता। सबको समान अवसर और अधिकार के सिद्धान्त की हिमायत करता है। अतएव लोकोत्तर धर्म-साधना मे आश्रम या वर्ण के भेद से कर्म (चारित्र) का भेद वह अनुचित मानता है। यह सम्भव नही कि ब्राह्मण होने के कारण एक व्यक्ति शास्त्र का पठन-पाठन करके मोक्ष प्राप्त करे और दूसरा शूद्र होने के कारण सेवा द्वारा वही मोक्ष प्राप्त कर ले; वास्तव मे साधक मात्र के लिये, चाहे वह किसी भी वर्ण या आश्रम मे हो, कर्म या सम्यक्चारित्र का एक ही रूप है।

अलबत्ता परिस्थिति और योग्यता सबकी समान नही होती, अतएव उनके विकास एवं विकास के वेग मे अन्तर हो सकता है, किंतु चरम विकास करने का अधिकार सबको समान है। उनके विकास का मार्ग भी एक ही है।

भक्तिमार्ग के विषय मे अलग परिच्छेद मे विचार करेंगे।



साधना का सर्वस्व : मनोविजय

आत्मा के अस्तित्व की अभिव्यक्ति का प्रधान साधन, आत्म-व्यापारों का सर्वाधिक प्रभावशाली और समर्थ वाहन तथा इस विराट् जगत् के साथ आत्मा का अनुसन्धान करने वाला मन ही है। मन आत्मा का वह अद्भुत द्वार है जिससे चिन्तन-मनन सामने आते हैं। मन चेतन-देव का महामात्य है, जिसके विना उसका घडी भर भी काम नही चलता। सचमुच मन में असाधारण क्षमता है, वेग है। हम जो भी सोचते, समझते, चिन्तन करते और तर्कणा करते हैं, सब मन की शक्ति के द्वारा ही करते हैं।

मन स्वयं आत्मा की मूल्यवान् शक्ति है। परन्तु शक्ति का उपयोग सदैव दोहरा होता है। दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि शक्ति दुधारी तलवार है। शक्ति के सदुपयोग से जहां शक्तिमान् को बल और सफलता मिलती है, वही दुरुपयोग से उसका विघात, ह्रास और पतन होता है। मन के विषय मे भी यह सत्य पूरी तरह लागू होता है।

हमारे भावी श्रेयस्-अश्रेयस् का मन के साथ कितना सम्बन्ध है, यह तथ्य अनुभवियो की इसी उक्ति से प्रकट है:—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:।

आत्मा का बन्धन और मोक्ष मनोव्यापारो पर निर्भर है। मन उसे प्रगाढ़ बन्धनों मे आबद्ध करके नरक और निगोद की स्थिति मे भी ले जा सकता है और मुक्तिधाम मे भी पहुंचा सकता है।

मन के इसी महत्त्व के कारण उसकी साधना का विशेष महत्त्व है। मन की साधना के विषय मे आत्मवेत्ता महर्षियों ने बहुत सोचा और

लिखा है। यहा तक कि शास्त्र की एक पृथक् शाखा का निर्माण किया है और उसके निग्रह की विधि प्रदर्शित की है।

मन अत्यन्त चंचल है, साहसिक है और हठीला है। जैसे गेद को नीचे पटका जाय तो वह और अधिक ऊपर उछलती है, उसी प्रकार ज्यो-ज्यो मन को स्थिर करने का प्रयत्न किया जाता है, त्यो-त्यो वह अधिक गतिशील होने लगता है। ऐसी स्थिति मे उस पर नियंत्रण स्थापित करना आसान नही, तथापि असम्भव भी नही है। मन कितना ही जबर्दस्त क्यो न हो, आखिर तो आत्मा का ही एक उपकरण है। आत्मा उसकी अपेक्षा अधिक शक्तिसम्पन्न है। अतएव उसका निग्रह सम्भव है। गीता मे कहा गया है—निसन्देह मन चपल है और उसे नियंत्रित करना कठिन है, तथापि लगातार अभ्यास करने से और वैराग्य का आश्रय लेने से वह वशीभूत हो सकता है।* 'योग-सूत्र' ने भी गीता का समर्थन किया है।‡

महाप्राण केशी श्रमण ने गौतम स्वामी के समक्ष रहस्यपूर्ण शब्दों मे एक समस्या रक्खी—गौतम ! यह दुष्ट अश्व बडा साहसी—सहसा प्रवृत्ति करनेवाला और भयानक है। तुम इस पर आरूढ हो किंतु यह तुम्हारा अपहरण नही कर पाता। इसका क्या कारण है ?

गौतम, केशी के इंगित को तत्काल समझ गए। बोले—जब यह हठीला घोड़ा भागने लगता है तो मैं इसे 'श्रुत' की लगाम लगाकर थाम

---

* असंशयं महाबाहो: मनो दुर्विग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते॥

—गीता अ० ६० श्लोक ३५

‡ अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

—योगसूत्र

लेता हूं। लगाम से थाम लेने के बाद यह उन्मार्ग मे जाने से रुक जाता है और समीचीन मार्ग पर ही चलता है।

प्रश्न और उत्तर हो गया किन्तु गांठ अनखुली रह गई। तब केशी स्वामी ने पूछा—गौतम ! आखिर यह अश्व है कौन ?

गौतम ने कहा—महाराज ! यह मन ही दुष्ट अश्व है, जिसे मैं 'धर्मशिक्षा' से वशीभूत करता हूं।†

गीता और योग सूत्र के शब्दो में अभ्यास और वैराग्य कह लीजिए, चाहे उत्तराध्ययन सूत्र के शब्दो मे 'धर्मशिक्षा' कहिए, कोई वास्तविक अन्तर नही है। इन सब उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि मन का निग्रह किया जा सकता है। वह दुर्जेय भले हो, अजेय नही है। उस पर पूरी तरह नियन्त्रण स्थापित करने के लिये धर्म शिक्षाओ पर अमल करना आवश्यक है।

आचार्य हेमचन्द्र ने मनोविजय के सम्बन्ध मे बहुत सुन्दर कहा है*—निरंकुश मन राक्षस है जो निःशंक होकर दौड़धूप करता रहता है और तीनो जगत् के जीवो को संसार रूपी गड्ढे में गिराता है।

---

† अयं साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ।
जंसि गोयमः आरूढो, कहं तेण न हीरसि॥
पधावन्तं निगिण्हामि, सुयरस्सी समाहियं।
न मे गच्छइ उम्मार्गं, मग्गं च पडिवज्जइ।
आसे य इइ के वुत्ते ? केसी गोयममब्ववी।
केसीमेवं वुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी।
मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कंथगं।
—उत्तराध्ययन, २३–५५–५८

*योगशास्त्र, चतुर्थ प्रकाश।

आंधी की तरह चंचल मन मुक्ति प्राप्त करने के इच्छुक और तीव्र तपश्चर्या करने वाले मनुष्य को भी कही का कही ले जाकर पटक देता है। अतः मन का निरोध किये बिना जो योगी होने का निश्चय करता है, वह उसी प्रकार हँसी का पात्र बनता है जैसे कोई पंगु पुरुष एक गाव से दूसरे गांव जाने की इच्छा करके हास्यास्पद बनता है।

मन का विरोध होने पर कर्म भी पूरी तरह से रुक जाते है क्योकि कर्म का आस्त्रव मन के अधीन है। जो पुरुष मन का विरोध नही कर पाता, उसके कार्यों की अभिवृद्धि होती रहती है। अतएव जो कर्मो से मुक्ति चाहते है, उन्हे समग्र विश्व मे भटकने वाले लंपट मन को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए।

यदि मन की शुद्धि हो गई है तो समझ लीजिये कि अविद्यमान क्षमा आदि गुण भी विद्यमान ही है, क्योकि मनः शुद्धि वाले उन गुणो का फल सहज ही प्राप्त हो जाता है। यदि मनः शुद्धि नही हुई है तो क्षमा आदि गुणों का होना भी न होने के समान है।

जो मन को शुद्ध किये बिना मुक्ति के लिए तपस्या करते है, वे नौका को त्याग कर भुजाओ से महासागर को पार करना चाहते है।

जैसे अंधे के लिये दर्पण व्यर्थ है; उसी प्रकार मन की शुद्धि किये बिना तपस्वी का ध्यान करना निरंथक है। मन की शुद्धि के अभाव मे तपश्चरण, श्रुताभ्यास एव महाव्रतो का पालन करके काया को क्लेश पहुँचाने से क्या लाभ!

मन की शुद्धि करके ही राग-द्वेष पर विजय प्राप्त की जाती है, जिसके प्रभाव से आत्मा मलीनता को त्याग कर अपने शुद्ध स्वरूप मे स्थित होता है।

[११]

ध्यान-योग

ध्यान का स्वरूप

जैसा कि बतलाया जा चुका है, मनुष्य का मन प्रचण्ड पवन के आघात से क्षुब्ध सरोवर के समान है। वह कभी इस वस्तु का तो कभी उस वस्तु का चिन्तन करता रहता है। उसमे स्थिरता नही होती वह निरंतर चंचल बना रहता है। इस चंचलता को रोक कर उसे एक निष्ठ बनाना ही ध्यान है।*

आचार्य नेमिचन्द्र ने परम ध्यान का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है— शरीर से कोई चेष्टा मत करो, वाचनिक व्यापार को बंद कर दो और मन से चिन्तन मत करो। इस प्रकार करने से मन वचन और काम के व्यापार का निरोध हो जाएगा। यह आत्मनिर्भरता या तल्लीनता ही परम ध्यान है।

उल्लिखित दोनो लक्षणों मे किंचित् पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। प्रथम लक्षण मे मनोव्यापार को किसी भी एक ध्येय वस्तु में स्थापित करना ध्यान बतलाया गया है जबकि दूसरे लक्षण मे मनोव्यापार का निरोध करके आत्मा का आत्म मे लीन होना ध्यान कहा गया है। किन्तु यह पार्थक्य ध्याता की भूमिका के भेद के कारण है। इसमे तात्त्विक भेद नही। ध्यान की प्रारंभिक स्थिति मे राग-द्वेष आदि का निवारण करने के लिए सविकल्प ध्यान ही संभव है। उसमे परद्रव्य का चिन्तन होता है। किन्तु जब अभ्यास परिपक्व हो जाता है तो शुद्ध-बुद्ध स्वभावगत

---

* उत्तमसंहननस्यैकाग्र चिन्ता निरोधो ध्यानम्। अ. ९.२८ —तत्त्वार्थसूत्र,
मुहूर्तान्तर्मनः स्थैर्यं ध्यानं छद्मस्थयोगिनाम्।

—आचार्य हेमचन्द्र

निजात्मा ही ध्येय रह जाता है। उस समय पंचपरमेष्ठी आदि पर द्रव्य नही रहते। उस स्थिति मे ध्यान, ध्याता और ध्येय का विकल्प हट जाता है। आत्मा ही ध्यान बन जाता है। यह उच्चकोटि का ध्यान निर्विकल्प या परम ध्यान कहलाता है।

ध्यान करने से आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है, आत्मज्ञान से कर्म का क्षय होता और कर्म क्षय से मोक्ष प्राप्त होता है। अतएव ध्यान आत्मा के कल्याण का कारण है।*

ध्यान के माध्यम से ही मुनिजनो को निश्चय और व्यवहार मोक्ष मार्ग की प्राप्ति होती है, अतएव चित्त की एकाग्रता साध कर ध्यान का अभ्यास करना चाहिये।‡

ध्याता

मगर ध्यान की सिद्धि के लिये अनिवार्य योग्यता पहले प्राप्त कर लेना आवश्यक है। कषाय विजय के बिना आत्मज्ञान प्राप्त नही होता। कषाय विजय के लिए इन्द्रिय विजय अपेक्षित है, इन्द्रिय विजय के लिए मनः शुद्धि आवश्यक है, मनः शुद्धि के लिए रागद्वेष को जीतना आवश्यक है, राग-द्वेष को जीतने के लिए समभाव का अभ्यास चाहिये और उसके लिए निर्ममत्व भाव अनिवार्य है, इस प्रकार कार्य कारणभाव की प्रक्रिया पूर्ण होने पर ध्यान की योग्यता प्रकट होती है। इतनी योग्यता प्रकट होने पर ध्यान करने मे

---

* मोक्षः कर्मक्षयादेव स चात्मज्ञानतो भवेत्।
ध्यानसाध्यं मतं तच्च तद् ध्यानं हितमात्मनः।
—योगशास्त्र, ४, ११३.

‡ दुविहं पि मुक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह॥
—वृहद्द्रव्य संग्रह, ४७

सफलता प्राप्त होती है। आचार्य नेमिचन्द्र ने बतलाया है कि जो साधक अपने चित्त को स्थिर करना चाहता है अर्थात् ध्यानसाधना में सफल होना चाहता है, उसे इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष और मोह की वृत्तियों से दूर हो जाया चाहिये। इसके अतिरिक्त जो साधक तप, श्रुत और व्रत का धारक होता है, वही ध्यान रूपी रथ की धुरा को धारण कर सकता है, अतएव ध्यान की प्राप्ति के लिए तप, श्रुत और व्रतों की आराधना करना अनिवार्य है।†

आचार्य हेमचन्द्र ने ध्यान करने वाले साधक मे निम्न लिखित गुणों की संख्या प्रतिपादित की है—

(१) संयम के प्रति इतनी गहरी निष्ठा हो कि प्राण-सङ्कट मे आने पर भी उसका परित्याग न करें।
(२) समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझे।
(३) ध्येय-लक्ष्य से च्युत न हो।
(४) सर्दी, गर्मी या वायु से खिन्न न हो।
(५) योग रूपी अमृत-रसायन का पान करने का इच्छुक न हो।
(६) राग-द्वेष से आक्रान्त न हो।
(७) क्रोधादि कषायो का विजेता हो।
(८) मन को आत्माराम मे रमण करानेवाला हो।
(९) सब कर्मों मे अलिप्त रहे।
(१०) कामभोगो मे विरक्त हो।

---

† मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठनिट्ठ अट्ठेसु।
थिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्त झाणप्प सिद्धीए।
तवसुदवदवं चेदा झाणरह धुरंधरो हवे जम्हा।
तम्हा तत्तियनिरदा तल्लद्धीए सदा होइ॥
—बृहद्द्रव्य संग्रह, ४८, ५७.

(११) शरीराशक्ति से परे हो।
(१२) संवेग के सरोवर मे निमग्न रहता हो।
(१३) शत्रु-मित्र, स्वर्ण-पाषाण, निंदा-स्तुति, मान-अपमान मे सम-भाव रखने वाला हो।
(१४) सबके कल्याण का अभिलाषी हो।
(१५) करुणावान् हो।
(१६) सासारिक सुखो से विमुख न हो।
(१७) परीषह-उपसर्ग आने पर भी सुमेरु की तरह अचल रहे।
(१८) चन्द्रमा के समान सौम्य और वायु के समान निःसंग हो।
(१९) प्रशस्त बुद्धि वाला हो।

ध्येय

ध्यान के स्वरूप और ध्याता की योग्यता को समझ लेने के साथ ही 'ध्येय' को जान लेना भी आवश्यक है। ध्यान-अवस्था मे मन जिस वस्तु पर केन्द्रित किया जाता है या जिसका चिन्तन किया जाता है, वह ध्येय कहलाता है।

ध्येय चार प्रकार के होते हैं—(१) पिण्डस्थ (२) पदस्थ (३) रूपस्थ और (४) रूपातीत। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) **पिण्डस्थः**—पिण्ड अर्थात् शरीर मे स्थित आत्मा। उसका चिन्तन जिस ध्यान मे किया जाता है वह पिण्डस्थ कहलाता है। शरीरस्थ आत्मा का ध्यान करने के लिये पाँच प्रकार की धारणाओ का अवलम्बन करना पड़ता है—(१) पार्थिवी (२) आग्नेयी (३) मारुती (४) वारुणी और (५) तत्त्वभू।

(१) जिस पृथ्वी पर हमारा निवास है, उसका नाम मध्यलोक है। इस मध्यलोक के बराबर विशाल क्षीर- सागर का चिन्तन करना चाहिए। क्षीरसागर मे जम्बूदीप के बराबर एक लाख योजन विस्तार वाले, स्वर्ण के समान आभा वाले और हजार पंखुड़ियो वाले कमल का

चिन्तन करना चाहिए। उस कमल के मध्य में केसराएँ हैं और पीत-वर्ण की प्रभा से युक्त और मेरु पर्वत के बराबर एक लाख योजन ऊँची कर्णिका है। उस कर्णिका के ऊपर एक अतीव उज्ज्वल सिंहासन है, जिस पर मैं आसीन हूं और कर्मों का क्षय करने में उद्यत हूं। ऐसा चिन्तन करना पार्थिवी धारणा है।

(२) आग्नेयी धारणा में नाभि के भीतर सोलह पाखुड़ियों के कमल का चिन्तन करना चाहिए। उस कमल की कर्णिका पर 'अर्हं' स्थापित करना चाहिए और प्रत्येक पत्ते पर अनुक्रम से अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, यह सोलह स्वर स्थापित करना चाहिए।

तत्पश्चात् हृदय मे आठ पंखुडियों के कमल का चिन्तन करना चाहिए। उसकी पंखुडी पर अनुक्रम से ज्ञानावरण आदि आठ कर्म स्थापित करना चाहिए। यह कमल अधोमुख हो। तत्पश्चात् रेफ, कला और बिन्दु से युक्त, 'हं' इस अक्षर के रेफ मे से धीमी-धीमी निकलने वाली धूमशिखा का चिन्तन करना चाहिए। फिर उसमें से अग्नि की चिनगारियों के निकलने का, फिर ज्वालाओं का चिंतन करना चाहिए। इन ज्वालाओं से हृदय स्थित पूर्वोक्त आठ दलों वाले कमल को दग्ध करना चाहिए और सोचना चाहिए कि महामंत्र 'अर्हं' के ध्यान से उत्पन्न हुई प्रबल अग्नि अवश्य ही कर्मयुक्त कमल को भस्म कर देती है।

तत्पश्चात शरीर से बाहर त्रिकोण स्वस्तिक से युक्त और अग्नि-बीज 'रेफ' से युक्त जलते हुए वह्निपुर का चिन्तन करना चाहिये। तदन्तर शरीर के अन्दर महामंत्र के ध्यान से उत्पन्न हुई शरीर की ज्वाला से बाहर की वह्निपुर की ज्वाला देह से और कमल को तत्काल भस्म करके अग्नि शान्त हो गई है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए। यह आग्नेयी धारणा है।

(३) आग्नेयी धारणा के पश्चात् प्रचण्ड पवन का चिन्तन करना चाहिये और सोचना चाहिए कि देह और आठ कर्मों के जलने से जो राख बनी थी; वह उड़ रही है। ऐसा दृढ चिन्तन करके पवन को शान्त कर देना चाहिये। यह वायवी धारणा है।

(४) वारुणी धारणा मे अमृत सी वर्षा करने वाले और मेघ मालाओ से व्यस्त आकाश का चिन्तन किया जाता है। तत्पश्चात् अर्ध-चन्द्राकार कला बिन्दु से युक्त वरुण बीज 'वँ' का चिन्तन करना चाहिये। फिर यह चिन्तन करना चाहिये कि 'वँ' से उत्पन्न अमृत के समान जल से आकाशतल भर गया है और पहले उड़ी हुई भस्म इस जल से धुल कर साफ हो रही है।

(५) पूर्वोक्त चार धारणाये करने के पश्चात् रस रक्त आदि सात धातुओ से रहित, पूर्ण चन्द्र के समान निर्मल एवं उज्ज्वल क्रान्ति वाले तथा सर्वज्ञ के समान शुद्ध आत्मस्वरूप का चिन्तन करना चाहिए।

तत्पश्चात् सिंहासन पर आरूढ़, सर्व अतिशयो से सुशोभित, समस्त कर्मो का विध्वंस करने वाले, उत्तम महिमा से सम्पन्न अपने शरीर में स्थित निराकार आत्मा का चिन्तन करना चाहिए।

इस प्रकार का चिन्तन पिण्डस्थ ध्यान कहलाता है। इस ध्यान के प्रभाव से मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है। इसका निरन्तर अभ्यास करने से मारण उच्चाटन आदि विद्याएँ, तथा सिंह सर्प आदि हिंसक प्राणी दूर रहते है। वे इस योगी के तेज को सहन नही कर सकते।*

(२) **पदस्थ** पवित्र मंत्राक्षर रूप पदों का आलम्बन करके जो ध्यान किया जाता है, वह पदस्थध्येय के कारण पदस्थ ध्यान कहलाता है। इस ध्यान मे चिन्तनीय पद अनेक प्रकार के हैं। साधक अपनी रुचि

---

* देखिये योग शास्त्र का सप्तम प्रकाश।

या इच्छा के अनुसार उनमें से किसी का भी ध्यान करता है। पैंतीस अक्षर वाले नमस्कार मंत्र का 'अरिहंत-सिद्ध-आयरिय उवज्झाय साहू' इस षोडशाक्षरी विद्या का, 'अरिहंतसिद्ध' इस षडक्षरी मंत्र का, 'अ-सि-आ-उ-सा' इस पंचाक्षरी का, 'ॐ अर्हं' का अथवा एकाक्षरी मंत्र 'ॐ' का ध्यान किया जाता है।

(३) रूपस्थ समवसरणमें स्थित अरिहन्त परमात्मा रूपस्थ ध्येय हैं। उनका चिन्तन करना रूपस्थ ध्यान है। इस ध्यान में ध्यान में ध्याता को ऐसा चिन्तन करना चाहिए-समस्त कर्मों को विध्वस्त कर देने वाले, देशना के समय देव रचित तीन प्रतिबिम्बों के कारण चतुर्मुख दिखाई देने वाले, तीन उज्ज्वल छत्रों से सुशोभित, सूर्यप्रभा का भी तिरस्कार करने वाला भा मंडल जिनके पीछे जगमगा रहा है, दिव्य दुंदुभि का निर्घोष जिनकी आध्यात्मिक सम्पदा का गान कर रहा है, गुंजार करते हुए भ्रमरों की झंकार से शब्दायमान अशोक वृक्ष से सुशोभित, सिंहासन पर आसीन, चामर जिन पर ढोरे जा रहे हैं, सुरेन्द्र-असुरेन्द्रों द्वारा जो वन्दित हैं, जिनके प्रभाव से जन्मजात वैर वाले सिंह-हरिण आदि प्राणी निर्वैर हो गए हैं, जो केवल ज्ञान के लोकोत्तर प्रकाश से जगमगा रहे हैं, ऐसे अरिहन्त भगवान् समवसरण में विराजमान हैं।

इस ध्यान में तन्मयता प्राप्त हो जाने पर साधक अपने आपको स्पष्ट रूप सर्वज्ञ के रूप में देखने लगता है। जब तक उसका मन वीतराग-भाव में रमण करता है, तब तक वह वीतरागभाव की ही अनुभूति करता है।

(४) रूपातीत निरंजन, निराकार, चैतन्यस्वरूप सिद्ध परमात्मा रूपातीत ध्येय हैं। जिस ध्यान में उनका चिन्तन किया जाता है, वह रूपातीत ध्यान कहलाता है।

जो साधक क्रमशः पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ ध्यान में परिपक्वता प्राप्त कर लेता है, वही रूपातीत ध्यान की योग्यता प्राप्त कर सकता है।

इस ध्यान के प्रभाव से ध्येय और ध्याता का विकल्प समाप्त हो जाता है और ध्यान, ध्याता, ध्येय तीनो एकाकार हो जाते है। ध्याता की ध्येय के साथ एक रूपता हो जाती है।

भेद-प्रभेद—प्राणी की चिन्तन धाराएँ यो तो असंख्य प्रकार की है, किन्तु उन्हे चार भागों मे विभक्त किया है। वही ध्यान के चार भाग कहलाते है। यथा—(१) आर्त्तध्यान (२) रौद्रध्यान (३) धर्म-ध्यान और (४) शुक्लध्यान।

इष्टवियोग अनिष्टसंयोग, रोग और भोग कामना से प्रेरित चितन धारा आर्त्तध्यान कहलाती है। हिंसा, असत्य आदि पापो का आचरण करने के उद्देश्य से होनेवाले विचार रौद्रध्यान मे सम्मिलित है। जिनाज्ञा आदि का विचार धर्मध्यान है और उच्चश्रेणी का अतिशय उज्ज्वल ध्यान शुक्लध्यान है। यह चारों ध्यान भी चार-चार प्रकार के है।

चार ध्यानो मे आदि के दो—आर्त्त और रौद्रध्यान अप्रशस्त है। उन्हे अपध्यान या पापध्यान कहा जा सकता है। शुक्लध्यान इस देश-काल मे संभव नही है। इस काल मे साधक के लिए धर्मध्यान ही एक-मात्र आलम्बन है। अतएव अन्यान्य ध्यानो के विस्तार मे न जाकर यहां धर्मध्यान का ही परिचय दिया गया है। धर्मध्यान के अन्य प्रकार से भी चार भेदो का वर्णन किया गया है—(१) आज्ञाविचय (२) अपाय-विचय (३) विपाकविचय और (४) संस्थानविचय। सर्वज्ञ भगवान् की आज्ञा को दृष्टि मे रखकर तात्त्विक अर्थ चिन्तन करना आज्ञाविचय, राग-द्वेष प्रमाद आदि विकारो से उत्पन्न होनेवाले कष्टो का चिन्तन करना अपायविचय, कर्म के विपाक का चिन्तन करना विपाकविचय और पुरुषाकार लोक का चिन्तन संस्थानविचय धर्मध्यान कहलाता है।

चार भावनाएँ

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य। यह चार भावनाएँ धर्म-ध्यान का उपस्कार करने के लिए रसायन के समान है। अतएव सा

को चाहिए कि वह अपने अन्तर में अधिक से अधिक इन भावनाओं को जागृत और प्रदीप्त करें। इनका अभिप्राय यह है—

१ **मैत्री-भावना**—जगत् का कोई भी प्राणी पाप न करे, कोई भी प्राणी दुःख का भाजन न बने, समस्त प्राणी दुःख से मुक्त हो जाएँ, इस प्रकार का चिन्तन पुनः-पुनः करना मैत्रीभावना है।

२ **प्रमोद-भावना**—जिनके समस्त दोष दूर हो गए हैं और जो यथार्थ वस्तुस्वरूप के द्रष्टा है, उन गुण गरिष्ठ महापुरुषों के गुणों के प्रति आदर होना, उनकी प्रशंसा करना, उनकी सेवा करना और उन्हें देखकर प्रसन्न होना प्रमोद भावना है।

३ **करुणा-भावना**—जो प्राणी दीन हैं, दुःखी हैं, भयभीत हैं और प्राणों की भिक्षा चाहते हैं, उनके दुःख को दूर करने की भावना होना करुणा भावना है।

४ **माध्यस्थ्य-भावना**—जो कुपथगामी हैं, सन्मार्ग से भ्रष्ट हैं, अभक्ष्य-भक्षण, अपेय-पान और अगम्य-गमन से परहेज नहीं करते, क्रूर कर्म करके प्रसन्न होते हैं, जो दूसरों की निन्दा और अपनी प्रशंसा किया करते हैं और जिन्हें सन्मार्ग पर लाना शक्य नहीं है, जो उपदेश के भी पात्र नहीं हैं, उनके प्रति भी घृणा या द्वेष का भाव न रखते हुए उपेक्षाभाव धारण करना माध्यस्थ्य-भावना है।

एक बार प्रारम्भ किया हुआ ध्यान एक मुहूर्त से अधिक काल तक स्थिर नहीं रहता; किन्तु जो साधक इन चार भावनाओं से भावित होता है, वह भङ्ग हुए ध्यान की परम्परा को पुनः जोड़ लेने में समर्थ होता है।

ध्यान-विधि

विधिपूर्वक की गई क्रिया ही सफल होती है, अतएव जो साधक ध्यान करना चाहता है, उसे ध्यान की विधि पहले समझ लेनी चाहिए और निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए—

१ ध्यान के लिए आसन का कोई ऐकान्तिक नियम नही है। जिस आसन का उपयोग करने मे सुविधा हो और जिससे मन की अधिक से अधिक स्थिरता रह सकती हो, उसी आसन का प्रयोग करना उचित है।

२ ध्यान करते समय दोनो होठ मिले रहना चाहिए।

३ नेत्र खुले न रहे, न पूरी तरह बन्द रहे। उन्हे नासिका के अग्रभाग पर स्थापित कर लेना चाहिये।

४ दात इस प्रकार रहे कि ऊपर दाँतो के साथ नीचे के दातो का स्पर्श न हो।

५ मुख प्रसन्न रहना चाहिये।

६ पूर्व और उत्तर दिशा समस्त प्रशस्त कार्यों के लिए योग्य मानी गई है। अतएव इन्ही मे से किसी की ओर मुख करके ध्यान करना चाहिये।

७ ध्यान के समय मेरूदंड सीधा और सुव्यवस्थित रहना चाहिए।

८ प्रमाद को दूर रखना चाहिये।

९ ध्यान की सिद्धी के लिए किसी पवित्र और एकान्त शान्त स्थान को चुनना चाहिए, जहां कोलाहल न हो और चित्तक्षोभ का कारण न हो।

१० ध्यान का अभ्यास करने वाले को आहार की सात्विकता और शुद्धता का ख्याल रखना रखना चाहिये। परिमित भोजन करना चाहिये।

११ ब्राह्ममुहूर्त्त ध्यान के लिए सबसे अनुकूल समय है।

भक्ति साधना

भारतवर्ष की विभिन्न धर्म परम्पराओ मे भक्ति को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। ईसाई; मुस्लिम तथा अन्यान्य सम्प्रदायो मे भी भक्ति की सुन्दर और मधुर व्याख्या की गई है।

भक्ति के अनेक साधन है, अनेक स्तर है और अनेक प्रकार के भेद हैं। शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदाय तो भक्तिमार्ग को ही उत्कृष्ट मार्ग मान कर चलते है।

इसमे सन्देह नही कि भक्ति का साधन अन्य साधनो की अपेक्षा सरल है। अतएव प्राथमिक भूमिका के साधको के लिये यह सर्वोत्कृष्ट साधन है। यही कारण है कि अन्यान्य साधनो की अपेक्षा भक्ति साधन अपनाने वालो की ही संख्या विपुल है। उसी का प्रसार सर्वत्र दृष्टि-गोचर होता है।

वैदिक परम्परा मे भक्ति की विवेचना और मीमांसा मे प्रचुर ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। उन ग्रन्थों में भक्ति के इतने अधिक रूप-प्रकार-प्रदर्शित किये गए हैं कि उनका यहां सामान्य उल्लेख करना भी संभव नही है। सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति तो प्रसिद्ध ही है, जिसमें परमात्मा के साकार और निराकार स्वरूप की उपासना की जाती है, उन के भी नाना भेद-प्रभेद है। भागवत में नवधा भक्ति का निरूपण इस प्रकार मिलता है।

> श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
> अर्चनं वन्दनं दास्यं, सख्यमात्मनिवेदनम्।

(१) भगवान् के अलौकिक चरित्र का श्रवण करना (२) नाम कीर्तन करना (३) स्मरण करना (४) चरण कमलों का ध्यान

करना (५) वाह्य सामग्री या मन द्वारा कल्पित सामग्री से भगवत्पूजन करना (६) वन्दन-प्रणमन करना (७) अपने को दास मानकर सेवा करना (८) मित्र भाव से सेवा करना (९) अहंकार को त्याग कर अपने सर्वस्व को तथा अपने आपको भगवान् के समर्पण कर देना।

वहा पाँच रसो के आधार पर पाँच प्रकार की भक्ति का वर्णन भी मिलता है। पाँच रस इस प्रकार है—शान्त रस, प्रीतिरस, प्रेयोरस (सख्यरस),वात्सल्यरस और मधुररस (शृंगार रस)। एक विद्वान् कहते है '(भक्ति) रस की सर्वोच्च परिणति मधुर रस मे होती है। यह अलंकार-शास्त्र के शृङ्गाररस का अतीन्द्रिय दिव्य स्वरूप है। यह सभी के, अनुभव की वात है कि लौकिक इन्द्रिय सुख की प्रगाढता और विस्तार की परमावधि दाम्पत्य प्रेम मे ही हुआ करती हे। इसी प्रकार शृङ्गार अथवा मधुर रस विकास की चरमावस्था है। चरमावस्था इसे इसलिए कहा जाता है कि इसमे सब प्रकार की मर्यादा और सङ्कोच दूर हो जाते है और निरन्तर भगवान् की सेवा अवाध रूप से होती है और इस प्रकार इस सुख का समास्वादन अत्यन्त प्रगाढ होता है। *

इसका आशय यह है कि परमात्मा को पति मानकर और अपने आपको पत्नी समझ कर भक्त जो भक्ति करता है, वही सर्वोत्कृष्ट भक्ति है। इक प्रकार की 'कृष्ण भक्ति' राधा ने की थी और जो सर्वोत्तम भक्ति करना चाहता है उसे अपने को राधा–भगवान् की पत्नी–मानकर ही भक्ति करना चाहिए।

कहने की आवश्यकता नही कि इस प्रकार की विवेचनाएँ वास्तव मे भक्ति की विकृतियाँ है और भूतकाल मे इन कल्पनाओ की वदौलत घोर से घोर अनर्थ, दुराचार और व्यभिचार तक हुए है। धर्म भी हो

---

* देखिये कल्याण का साधना-अङ्क ५१७–२२

भक्ति साधना

भारतवर्ष की विभिन्न धर्म परम्पराओ मे भक्ति को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। ईसाई; मुस्लिम तथा अन्यान्य सम्प्रदायो मे भी भक्ति की सुन्दर और मधुर व्याख्या की गई है।

भक्ति के अनेक साधन है, अनेक स्तर है और अनेक प्रकार के भेद है। शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदाय तो भक्तिमार्ग को ही उत्कृष्ट मार्ग मान कर चलते है।

इसमे सन्देह नही कि भक्ति का साधन अन्य साधनों की अपेक्षा सरल है। अतएव प्राथमिक भूमिका के साधकों के लिये यह सर्वोत्कृष्ट साधन है। यही कारण है कि अन्यान्य साधनो की अपेक्षा भक्ति साधन अपनाने वालों की ही संख्या विपुल है। उसी का प्रचार सर्वत्र दृष्टि-गोचर होता है।

वैदिक परम्परा मे भक्ति की विवेचना और मीमांसा में प्रचुर ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। उन ग्रन्थो मे भक्ति के इतने अधिक रूप-प्रकार-प्रदर्शित किये गए है कि उनका यहाँ सामान्य उल्लेख करना भी संभव नही है। सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति तो प्रसिद्ध ही है, जिसमें परमात्मा के साकार और निराकार स्वरूप की उपासना की जाती है, उन के भी नाना भेद-प्रभेद है। भागवत मे नवधा भक्ति का निरूपण इस प्रकार मिलता है।

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं, सख्यमात्मनि वेदनम्।

(१) भगवान् के अलौकिक चरित्र को श्रवण करना (२) नाम कीर्त्तन करना (३) स्मरण करना (४) चरण कमलो का सेवन

करना (५) वाह्य सामग्री या मन द्वारा कल्पित सामग्री से भगवत्पूजन करना (६) वन्दन-प्रणमन करना (७) अपने को दास मानकर सेवा करना (८) मित्र भाव से सेवा करना (६) अहंकार को त्याग कर अपने सर्वस्व को तथा अपने आपको भगवान् के समर्पण कर देना।

वहा पाँच रसो के आधार पर पाँच प्रकार की भक्ति का वर्णन भी मिलता है। पाँच रस इस प्रकार है—शान्त रस, प्रीतिरस, प्रेयोरस (सख्यरस),वात्सल्यरस और मधुररस (शृंगार रस)। एक विद्वान् कहते हैं '(भक्ति) रस की सर्वोच्च परिणति मधुर रस मे होती है । यह अलंकार-शास्त्र के शृङ्गाररस का अतीन्द्रिय दिव्य स्वरूप है। यह सभी के अनुभव की बात है कि लौकिक इन्द्रिय सुख की प्रगाढता और विस्तार की परमावधि दाम्पत्य प्रेम मे ही हुआ करती है। इसी प्रकार शृङ्गार अथवा मधुर रस विकास की चरमावस्था है। चरमावस्था इसे इसलिए कहा जाता है कि इसमे सब प्रकार की मर्यादा और सङ्कोच दूर हो जाते है और निरन्तर भगवान् की सेवा अबाध रूप से होती है और इस प्रकार इस सुख का समास्वादन अत्यन्त प्रगाढ़ होता है। *

इसका आशय यह है कि परमात्मा को पति मानकर और अपने आपको पत्नी समझ कर भक्त जो भक्ति करता है, वही सर्वोत्कृष्ट भक्ति है। इक प्रकार की 'कृष्ण भक्ति' राधा ने की थी और जो सर्वोत्तम भक्ति करना चाहता है उसे अपने को राधा—भगवान् की पत्नी—मानकर ही भक्ति करना चाहिए।

कहने की आवश्यकता नही कि इस प्रकार की विवेचनाएँ वास्तव मे भक्ति की विकृतियाँ हैं और भूतकाल मे इन कल्पनाओ की बदौलत घोर से घोर अनर्थ, दुराचार और व्यभिचार तक हुए है। धर्म भी हो

---

* देखिये कल्याण का साधना-अङ्क ५१७—२२

और हृदय की उच्छृंखल वासना का पोषण भी हो जाय तो कौन ऐसा न करना चाहेगा ?

परमात्मा की भक्ति का उद्देश्य काम क्रोध आदि दुर्वासनाओ का उन्मूलन करके वीतरागभाव प्राप्त करना है, मगर दाम्पत्य भाव से की जानेवाली भक्ति इस उद्देश्य को पूर्ण नही कर सकती। यही नही, वह प्रकारान्तर से कामुकता की वृद्धि मे सहायता करती है।

भक्ति विषयक यह कल्पनाएँ साहित्यिक रूप मे कितनी ही सात्त्विक क्यो न हो, व्यवहार मे सात्त्विक नही रह सकती। इतिहास साक्षी है कि वे सात्त्विक रही भी नही है। इस प्रकार की विकृत भक्ति ने सहस्त्रो जनों को धर्म-विरोधी बनाया है।

जैन परम्परा मे भी भक्तिमार्ग को समुचित स्थान उपलब्ध है। और इस विषय पर प्रचुर साहित्य का निर्माण भी हुआ है। मगर जैनधर्म का मूल और मुख्य उद्देश्य परिपूर्ण वीतरागभाव की प्राप्ति है, अतएव उसके अनुरूप ही वहा भक्ति का विधान किया गया है।

जिन्होने राग-द्वेष, काम क्रोध, आदि समस्त आत्मिक विकारों पर विजय प्राप्त कर ली है, जो सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता प्राप्त करके अव्याबाध अनन्त सुख के भागी बन चुके है, ऐसे अरिहन्त भगवान् के के प्रति, चतुर्विधि तीर्थ के नायक एवं आचार का पालन करने-कराने वाले धर्माचार्यो के प्रति, बहुश्रुतो आगम के विशिष्ट वक्ताओं के प्रति और तीर्थंकरो द्वारा उपदिष्ट प्र [illegible] विशु [illegible] अनुराग होना भक्ति है।†

'विशुद्ध भावपूर्ण अनुराग [illegible] गवान् के प्रति हृदय मे ऐसी गहरी, [illegible]

---

† [illegible] श्रुतेपु प्रवच [illegible] ६-२[illegible]

चाहिए कि वह अनन्यनिष्ठा बन जाए-जगत् के पदार्थो और सुखो पर अनुराग न रह जाए। कहावत प्रसिद्ध है एक म्यान मे दो तलवारें नही रह सकती। मानव का मन म्यान है और उसमे परमात्मप्रीति जब प्रगाढ़ रूप मे जागृत होती है तो अन्य पदार्थो के अनुराग को कोई अवकाश नही रहता। भक्त उस स्थिति मे अपने आपको भगवत्समर्पित अनुभव करने लगता है और शनैः शनैः उसकी अनुभूति तन्मयता का रूप धारण कर लेती है। उसमे भागवत् गुण प्रकट होने लगते हैं और अन्ततः भक्त ही भगवान् बन जाता है।

जैन परम्परा मे अनादिसिद्ध एक ईश्वर की सत्ता स्वीकार नही की जाती। ईश्वरतत्व पर एक व्यक्ति का शाश्वत एकाधिपत्य (monopoly) नही है। प्रत्येक साधक औपाधिक भावो से मुक्ति प्राप्त कर और शुद्ध आत्मा स्वरूप को प्रकट करके ईश्वरत्व की विभूति का अधिकार बन सकता है। अतएव भक्ति का उद्देश्य अन्ततः स्वयं ईश्वर बनना है। ईश्वर का दास या सखा बन के रहने मे भक्ति की चरम कृतार्थता नही है। इस प्रकार भक्ति ईश्वरत्व प्राप्ति का साधन है, साध्य नही। भक्ति को साध्य और साधन उभय रूप मानना भ्रान्ति है।

भक्ति के विषय मे एक प्रश्न पर विचार करके हम इस प्रकरण को समाप्त करेंगे। प्रश्न यह है कि ईश्वर मे यदि रोष और तोष की वृत्तिया विद्यमान हो और उनसे प्रेरित होकर वह अनुग्रह निग्रह करता हो-आशीर्वाद और अभिशाप देता हो, तब तो उसकी भक्ति करने से कुछ लाभ हो सकता है। यदि उसमे वह वृत्तियां नही है, वह वीतराग है तो उसकी भक्ति निरर्थक क्यों नही है ?

बहुत लोगो के चित्त मे यह प्रश्न उठता है किन्तु उसका मूल भक्ति विषयक शुद्ध ज्ञान का अभाव है। भक्ति का मूल्य समर्पण मे है, ग्रहण

और हृदय की उच्छृंखल वासना का पोषण भी हो जाय तो कौन ऐसा न करना चाहेगा ?

परमात्मा की भक्ति का उद्देश्य काम क्रोध आदि दुर्वासनाओ का उन्मूलन करके वीतरागभाव प्राप्त करना है, मगर दाम्पत्य भाव से की जानेवाली भक्ति इस उद्देश्य को पूर्ण नही कर सकती। यही नही, वह प्रकारान्तर से कामुकता की वृद्धि मे सहायता करती है।

भक्ति विषयक यह कल्पनाएँ साहित्यिक रूप मे कितनी ही सात्त्विक क्यो न हो, व्यवहार मे सात्त्विक नही रह सकती। इतिहास साक्षी है कि वे सात्त्विक रही भी नही हैं। इस प्रकार की विकृत भक्ति ने सहस्त्रो जनों को धर्म-विरोधी बनाया है।

जैन परम्परा मे भी भक्तिमार्ग को समुचित स्थान उपलब्ध है। और इस विषय पर प्रचुर साहित्य का निर्माण भी हुआ है। मगर जैनधर्म का मूल और मुख्य उद्देश्य परिपूर्ण वीतरागभाव की प्राप्ति है, अतएव उसके अनुरूप ही वहा भक्ति का विधान किया गया है।

जिन्होने राग-द्वेष, काम क्रोध, आदि समस्त आत्मिक विकारो पर विजय प्राप्त कर ली है, जो सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता प्राप्त करके अव्याबाध अनन्त सुख के भागी बन चुके हैं, ऐसे अरिहन्त भगवान् के के प्रति, चतुर्विध तीर्थ के नायक एवं आचार का पालन करने-कराने वाले धर्माचार्यो के प्रति, बहुश्रुतो आगम के विशिष्ट वक्ताओ के प्रति और तीर्थंकरो द्वारा उपदिष्ट प्रवचन के प्रति विशुद्ध भावपूर्ण अनुराग होना भक्ति है।‡

'विशुद्ध भावपूर्ण अनुराग' का तात्पर्य यह है कि वीतराग भगवान् के प्रति हृदय मे ऐसी गहरी, व्यापक एवं जागृत प्रीति उत्पन्न होना

---

‡ अर्हदाचार्यबहुश्रुतेषु प्रवचनेषु वा भाव विशुद्धि युक्तोऽनुरागो भक्तिः। सर्वार्थसिद्धि, अ. ६-२४, तत्त्वार्थभाष्य अ. ६-२३

चाहिए कि वह अनन्यनिष्ठा वन जाए-जगत् के पदार्थो और सुखो पर अनुराग न रह जाए। कहावत प्रसिद्ध है एक म्यान मे दो तलवारें नही रह सकती। मानव का मन म्यान है और उसमे परमात्मप्रीति जव प्रगाढ़ रूप मे जागृत होती है तो अन्य पदार्थो के अनुराग को कोई अवकाश नही रहता। भक्त उस स्थिति मे अपने आपको भगवत्समर्पित अनुभव करने लगता है और शनैः शनैः उसकी अनुभूति तन्मयता का रूप धारण कर लेती है। उसमे भागवत् गुण प्रकट होने लगते हैं और अन्तत. भक्त ही भगवान् वन जाता है।

जैन परम्परा मे अनादिसिद्ध एक ईश्वर की सत्ता स्वीकार नही की जाती। ईश्वरतत्व पर एक व्यक्ति का शाश्वत एकाधिपत्य (monopoly) नही है। प्रत्येक साधक औपाधिक भावो से मुक्ति प्राप्त कर और शुद्ध आत्मा स्वरूप को प्रकट करके ईश्वरत्व की विभूति का अधिकार वन सकता है। अतएव भक्ति का उद्देश्य अन्ततः स्वयं ईश्वर वनना है। ईश्वर का दास या सखा वन के रहने मे भक्ति की चरम कृतार्थता नही है। इस प्रकार भक्ति ईश्वरत्व प्राप्ति का साधन है, साध्य नही। भक्ति को साध्य और साधन उभय रूप मानना भ्रान्ति है।

भक्ति के विषय मे एक प्रश्न पर विचार करके हम इस प्रकरण को समाप्त करेगे। प्रश्न यह है कि ईश्वर मे यदि रोष और तोष की वृत्तिया विद्यमान हो और उनसे प्रेरित होकर वह अनुग्रह निग्रह करता हो-आशीर्वाद और अभिशाप देता हो, तव तो उसकी भक्ति करने से कुछ लाभ हो सकता है। यदि उसमे वह वृत्तियां नही है, वह वीतराग है तो उसकी भक्ति निरर्थक क्यो नही हैं ?

वहुत लोगो के चित्त मे यह प्रश्न उठता है किन्तु उसका मूल भक्ति विषयक शुद्ध ज्ञान का अभाव है। भक्ति का मूल्य समर्पण मे है, ग्रहण

में नही। ऐहिक या पारलौकिक सुख साधन प्राप्त करने के उद्देश्य से की जाने वाली भक्ति वस्तुतः भक्ति ही नही है। भक्ति का उद्देश्य विषयतृष्णा एवं कामना को नष्ट करके वीतरागता प्राप्त करना है, न कि कामनाओ की पूर्ति करना। जो लौकिक कामना की पूर्त्ति के लिए परमात्मा की भक्ति, स्तुति या प्रार्थना करता है, वह कृषक से भी अधिक भाग्यहीन है जो भूसे के उद्देश्य से कृषि करता है।

परमात्मा के गुणों मे अनन्य अनुराग उत्पन्न होने पर विषय जनित सुख और सुख के साधनभूत पदार्थो की निर्गुनता अन्तःकरण मे बद्धमूल हो जाती है। अनासक्ति की वृद्धि होती है और पापाचार का परित्याग हो जाता है। ऐसी अवस्था मे अपूर्व समभाव जागृत होता है और निराकुलता के निरुपम आनन्द की उपलब्धि होने लगती है। यह आनन्द इतना तीव्र और वास्तविक होता है कि विषयजन्य वैकारिक सुख इसकी तुलना मे नगण्य होता है। शनैः शनैः भक्त आत्मशुद्धि के महामार्ग पर अग्रसर होता जाता है और परिपूर्ण आत्मानन्द का भाजन बनता है। यही भक्ति का सबसे बडा और महामूल्य पुरस्कार है। इस प्रकार वीतराग देव हमे जो देते नही, उसे हम वीतराग की भक्ति करके स्वयं प्राप्त कर लेते है।

ऐहिक लाभ की प्राप्ति के लिए परमात्मा मे सरागित्व की कल्पना करना अनात्मज्ञता का परिचायक है। पिछले समय की जैन स्तुतियो या प्रार्थनाओ मे यदि ऐहिक याचना की प्रवृत्ति कही-कही दृष्टिगोचर होती है तो उसे पडोसियो का ही प्रभाव समझना चाहिए।

भक्ति, स्तुति, स्तवन, प्रार्थना, भजन आदि एक ही अभिप्राय के सूचक है। उत्तराध्ययन सूत्र में चतुर्विंशतिस्तव-चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति का फल सम्यग्दर्शन की विशुद्धि बतलाया गया है, इहलोक या

परलोक सम्बन्धी वैभव नही।* अतएव सच्चा मुमुक्षु पुरुष वीतरागता की प्राप्ति के लिए ही वीतराग की स्तुति या भक्ति करता है। यही भक्ति का महान् फल है। लौकिक वैभव उसके लिए महत्त्वपूर्ण नही होता, फिर भी शुभभावना-जनित पुण्य के परिपाक से वह अनायास ही प्राप्त हो जाता है।

---

* चउवीसत्थएणं भंते, जीवे किं जणयइ ?
चउवीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ।
—उत्त० अध्ययन २६



ॐ का विराट रूप

'ॐ' यह अक्षर ही सब कुछ है । जो कुछ भी भूत है, वर्तमान है और भविष्यत् है, सब उसी की व्याख्या है, इस कारण सब ओंकार ही है । इसके अतिरिक्त जो अन्य त्रिकालातीत वस्तु है, वह भी ओंकार ही है ।†

उपनिषद्कार ओंकार को ब्रह्म का वाचक शब्द स्वीकार करते हैं और वाचक तथा वाच्य को एकान्त अभेद मानकर उसे सर्वात्मक प्रतिपादित करते है । उनका कथन है कि इस चराचर विश्व के त्रैकालिक पदार्थ और त्रिकालातीत जो तत्त्व है वह सब ओमात्मक ही है । उनका यह प्रतिपादन अद्वैतवाद की पृष्टभूमि पर अवलम्बित है ।

किन्तु किसी भी वस्तु के पारमार्थिक एवं परिपूर्ण स्वरूप को हृदयंगम करने के लिए कोई भी ऐकान्तिक दृष्टिकोण पर्याप्त नही है । जब तक विविध दृष्टिकोणों से वस्तुस्वरूप का पर्यालोचन न किया जा, सत्य की उपलब्धि नही होती । किसी भवन का एक दिशा से लिया गया चित्र परिपूर्ण नही कहा जा सकता । उस चित्र मे भवन का अधिकांश भाग अदृश्य ही रहेगा ।

वस्तुस्वरूप पर तटस्थ भाव से विचार किया जाय तो एक ही वस्तु में आपाततः परस्पर विरोधी जैसे प्रतीत होने वाले अनेक स्वभावो की

---

†'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ।'—माण्डूक्योपनिषद


जैन महाव्रत – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।
वैदिक यम – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अकिंचन।
बौद्ध पंचशील – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, मद्यपान-त्याग
ऊर्ध्व लोक
सिद्ध
अरिहन्त
दर्शन, ज्ञान, तप, चारित्र, सर्वसाधु, उपाध्याय, आचार्य
मध्यलोक
राजनैतिक पंचशील
१. सार्वभौमिकता का समादर
२. अनाक्रमण
३. अहस्तक्षेप
४. पारस्परिक सहयोग और समानता
५. शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व
मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, अशुभ योग
अधोलोक

प्रतीति होती है। जगत् मे जो पदार्थ है, वे एक दूसरे से सर्वथा भिन्न भी नही और अभिन्न भी नही है। भेद की प्रतीति अनुभवसिद्ध है। जल से तृषा शान्त हो सकती है, अग्नि से नही। अग्नि से भोजन का परिपाक हो सकता हो, जल से नही। मनुष्य पशु पक्षी आदि मे चेतना की जो विशेषता दृष्टिगोचर होती है, वह जड़ पदार्थो मे नही है। इस प्रकार भाँति-भाँति से प्रतीत होने वाले भेद का अपलाप करना एक प्रकार से अपने अस्तित्व का अपलाप करना है। किन्तु इस विभिन्नता मे भी क्या कुछ सामंजस्य नही है? एकरूपता नही है? कम से कम सत्ता नामक धर्म तो ऐसा है ही, जिसके आधार पर हम विश्ववर्ती समस्त पदार्थो मे रही हुई एकरूपता को परखने मे समर्थ सकते हैं।

तो जगत् के समस्त पदार्थ भेदाभेदात्मक हैं। उनका प्रतिपादन प्रयोजन के अनुसार कभी भेद दृष्टि की तो कभी अभेददृष्टि की प्रधानता के अनुसार होता है। माण्डूक्योपनिषद् मे जो कथन किया गया है, वह अभेद की प्रधानता से ही सङ्गत होता है। इस दृष्टि के अनुसार चराचर विश्व ओंकार रूप ही है। ओंकार ब्रह्म है और ब्रह्म सत्ता का वाचक है। अतः सत्ता रूप से जगत् एक है। सत्ता से जो विलक्षण है, वह असत् के अतिरिक्त क्या हो सकता है?

मगर यहाँ ओंकार के विराट् रूप की कल्पना अन्य प्रकार से की गई है। चित्र देखने से प्रतीत होगा कि उसके विभिन्न विभागो मे विविध भावात्मक द्रव्य-भाव रूप अङ्गो का संविधान भी एक नूतन कल्पना द्वारा संजोया गया है।

ओंकार के चित्रण मे तीनो लोको की स्थिति का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। सर्वप्रथम ऊँचाई पर ऊर्ध्वलोक मे देवपद और मोक्षपद की प्राप्ति के साधन विभिन्न धर्मो के दृष्टिकोणो से बतलाए गए है। देवलोको का भी उल्लेख किया गया है। मध्य भाग मे भारत के प्रधान-

मन्त्री पं० नेहरु द्वारा विश्व-शांति के स्वप्न को साकार करने के उद्देश्य से प्रचारित पंचशीलों को स्थान दिया गया है। अधोभाग में, अधोलोक में स्थित नरक भूमियो का और उनमे जाने के कारणों का उल्लेख किया गया है।

ॐ के विकसित मार्ग मे अर्थात् पश्चाद्वर्त्ती भाग मे उन नौ पदों को अङ्कित किया गया है, जिनकी विधिवत् साधना से मुक्ति प्राप्त होती है। शीर्षस्त 'सिद्धाणं' इस पद से यह भाव व्यक्त किया गया है।

इस कल्पना का किंचित् विवरण आगे दिया जाएगा।

ऊर्ध्व भाग

ओंकार महामन्त्र के स्मरण का मुख्य लक्ष्य आत्म-शुद्धि प्राप्त करके सिद्धि प्राप्त करना है। किंतु ओंकार का स्मरण और जप तब ही शुद्ध होता है जब अन्तःकरण पाप-वासनाओ से रहित हो। पापमय वासनाओं को, जिनका मूल अत्यन्त सुदृढ और गहरा है, उन्मूलन करना हँसी-खेल नहीं है। पापाचरण न करने का संकल्प कर लेने पर भी और पापाचरण से निवृत्त हो जाने पर भी सुषुप्त रूप मे वासनाएँ विद्यमान रह सकती है। उनके उन्मूलन के लिए पाप परित्याग के साथ-साथ शुभ और शुद्ध अध्यवसायो मे रमण करने की आवश्यकता होती है। निरन्तर सतर्क और सावधान रहना पड़ता है, चित्त की पूरी तरह चौकसी करनी पड़ती है।

जिन पाप-व्यापारो से विरत हुए बिना ओंकार का विशुद्ध स्मरण चिन्तन और मनन सम्भव नही है, उनमे पांच प्रमुख हैं—हिंसा, असत्य, अदत्तादान, अब्रह्म और परिग्रह। इन पाच व्यापारो से मलिनता उत्पन्न होती है, राग और द्वेष की परिणति प्रबल होती है और आत्मा आत्मरमण से विमुख होकर बहिर्मुख बनता है। इन पापों का त्याग करने से ही पांच महाव्रतों की निष्पत्ति होती है। पांच महाव्रतों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

अहिंसा महाव्रत

प्रमादवश होकर मन, वचन या काय से किसी भी स्थूल, या सूक्ष्म प्राणी को दुःख न पहुँचाना, उसका वध न करना, दूसरों के द्वारा वध न करवाना और वध करनेवाले का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अनुमोदन न करना अहिंसा महाव्रत है।*

अहिंसा परम धर्म है, इस विषय मे समस्त धर्मशास्त्र एकमत है। जिन्होने हिंसापरक कर्मकाण्ड का विधान किया है, वे भी हिंसा को धर्म कहने का साहस न कर सके। उन्होने इस हिंसा को अहिंसा कहकर ही जनता के गले उतारने का प्रयत्न किया है।‡ इससे सहज ही अहिंसा के महत्त्व और प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है। वास्तव मे अहिंसा के प्रति जनमानस मे सदैव गहरी आस्था रही है, आज भी है और भविष्यत् मे भी रहेगी। अहिंसा स्वानुभवसिद्ध धर्म है। थोडा-सा कष्ट भी हमे पहुँचे, यह बात हमे रुचिकर नही है तो दूसरो को किस प्रकार रुचिकर हो सकती है ? जिस प्रकार हमे जीवित रहना प्रिय है, वध अप्रिय है, उसी प्रकार अन्य प्राणी भी जीवित रहना चाहते है और वध उन्हे प्रिय नही है। जो इस सीधी-सादी बात को समझ सकता है, वह अहिंसा को भी समझ सकता है।

साधना के क्षेत्र मे अवतीर्ण होने वाले साधक के लिए अहिंसाधर्म का आराधन करना सर्वप्रथम आवश्यक है। अहिंसा की भावना जागृत हुए बिना साधना संभव नही है। साधना का अभिप्राय ही अहिंसा है। यम, नियम, जप, तप आदि समस्त साधन अहिंसा की आराधना के लिये है। सत्य आदि व्रत अहिंसा व्रत की ही शाखाये है। इसी कारण हिंसाकारी सत्य भी वस्तुतः असत्य की कोटि मे गिना गया है।

---

* न यत्प्रमादयोगेन जीवितव्यपरोपणम्।
त्रसा स्थावराणाञ्च, तदहिंसाव्रतं मतम्।। —योगशास्त्र, १–२०

‡ वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।

हिंसा का अर्थ बहुत व्यापक है। जैसे दूसरे प्राणियो को व्यथा पहुचाना परहिंसा है, उसी अन्तःकरण मे राग, द्वेष, मद, मोह आदि विकारो का उत्पन्न होना स्व-हिंसा है। दूसरे को कष्ट देने का संकल्प या प्रयत्न होने पर पर-हिंसा कदाचित् हो या न भी हो, किन्तु स्व-हिंसा या आत्मवध तो हो ही जाता है। चित्त से उत्पन्न होने वाले प्रत्येक दुर्भाव से आत्महिंसा होती है, क्योकि वह आत्मिक शान्ति का विघातक होता है। अतएव अहिंसा महाव्रत का आराधक साधक अन्तःकरण मे उत्पन्न होने वाले दुर्भावों का निरोध करके स्वहिंसा और अन्य प्राणी को कष्ट न पहुँचा कर पर हिंसा से विरत होता है। यही अहिंसा-ब्रह्म की सच्ची साधना है।‡

सत्य महाव्रत

प्रिय, पथ्य और तथ्य वचन का ही प्रयोग करना और असत्य का सर्वथा त्याग करना सत्य महाव्रत है।

सत्य महाव्रत के इस लक्षण मे 'तथ्य' के साथ प्रयुक्त 'प्रिय' और 'पथ्य' विशेषणो पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। जो वचन तथ्य अर्थात् यर्थाथ तो हैं किन्तु अप्रिय है, अथवा अहितकर—अनर्थंकर है, वह सत्य मे परिगणित नही है।

सत्य अहिंसा का पोषक व्रत है। अतएव जिस वाणी से हिंसा को पोषण या प्रोत्साहन मिलता है, जिससे दूसरे के चित्त को व्यथा पहुँचती है अथवा जिससे अपनी आत्मा मे मलीनता उत्पन्न होती है, ऐसी तथ्य वाणी भी असत्य ही हैं। अतएव वास्तव मे सत्यवादी पुरुष वही है जो तथ्य के साथ हितकर और प्रियंकर वचनो का ही प्रयोग करता है।

---

‡अहिंसा भूताना जगति विदितं ब्रह्म परमम्।

—आचार्य समन्तभद्र

सत्य का सेवक ही भगवान् का सेवक है, क्योकि सत्य साक्षात् भगवान् का रूप है।* वह क्रोध, लोभ, भय और उपहास से प्रेरित होकर भी कभी असत्य का प्रयोग नही करता। सत्यवादी पुरुष पृथ्वी का आभूषण है और उसकी चरणरज से पृथ्वी पावन बनती है।

अस्तेयमहाव्रत

अस्तेय का अर्थ है अदत्तादान या चोरी का सर्वथा त्याग करना। साधक जन किसी भी सजीव या निर्जीव, अल्पमूल्य या महामूल्य, सूक्ष्म या स्थूल वस्तु को, मन वचन और काय से, उसके स्वामी के द्वारा दिये बिना ग्रहण नही करते। उनकी आवश्यकताएँ अत्यन्त स्वल्प होती है। वे उन आवश्यकताओ को इस विधि से पूर्ण करते है कि उन्हे अदत्त को ग्रहण करने की आवश्यकता ही नही पड़ती। जिस वस्तु का जो न्यायतः स्वामी है, उससे याचना करके ही वे आवश्यक वस्तु को ग्रहण करते है।

अदत्तादान एक भीषण पाप है, क्योकि उससे वस्तु के स्वामी को मार्मिक आघात पहुंचता है। अतएव धार्मिक पुरुष किसी भी वस्तु को दिये विना ग्रहण न करे। किसी की कोई वस्तु राह चलते गिर गई हो, कोई कही रखकर भूल गया हो, गुम हो गई हो, और कितनी भी अनिवार्य आवश्यकता क्यो न आ पड़ी हो, तथापि उसे ग्रहण करना उचित नही है।

इस प्रकार त्रिकरण त्रियोग से अदत्तादान का त्याग करना अस्तेय महाव्रत है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

भारतवर्ष के सभी ऋषि-मुनियो ने मुक्त कंठ से ब्रह्मचर्य का महिमा-

---

*तं सच्चं खु भगवं।—प्रश्नव्याकरणसूत्र, सं. २।

गान करके अपनी वाणी को पावन किया है। तप सभी उत्तम हैं, किन्तु ब्रह्मचर्य सब तपों में उत्तम है।* ब्रह्मचर्य का पालन करने से शरीरबल, मनोबल और आत्मबल की वृद्धि होती है। ब्रह्मचारी के मुखमण्डल पर एक अनूठी दिव्य आभा चमकती है। जो दुर्जय कामविकार को जीत लेता है, उसके लिए अन्यान्य विकारों को जीत लेने में कोई कठिनाई नहीं होती।

ब्रह्मचर्य का अर्थ मैथुन-निवृत्ति तो है ही, किन्तु उसका व्यापक अर्थ है–समस्त इन्द्रियों का और मन का निग्रह करके ब्रह्म अर्थात् आत्मा में रमण करना।

ब्रह्मचर्य महाव्रत की सिद्धि के लिए पूर्ण रूप से काम भोग से विरत होना आवश्यक है और उसके लिए कतिपय नियमों का पालन करना अनिवार्य है। वे नियम इस प्रकार हैं—

१. ब्रह्मचारी पुरुष ऐसे स्थान में शयन या अवस्थान न करे जहां स्त्री, नपुंसक (हीजड़ा) या पशु हों।
२. स्त्रियों के सम्बन्ध में ऐसी चर्चा-वार्त्ता न करें जिससे कामवासना के जागृत होने की संभावना हो–विकार को प्रोत्साहन मिलता हो।
३. स्त्रियों के साथ सम्पर्क न रक्खें।
४. रमणियों के मनोरम अंगोपांगों का अवलोकन न करें। सहसा दृष्टिपात हो जाय तो उसी प्रकार हटा लें जैसे सूर्य की ओर से हटा ली जाती है।
५. दीवार, यवनिका आदि की ओट से स्त्रियों का कूजन, गायन, हास्य आदि सुनने का प्रयत्न न करें। जहां इस प्रकार का व्याघात हो, वहां न ठहरे।

---

* तवेसु वा उत्तम बंभचेरं।–सूयगडांगसूत्र

६ पूर्वकृत कामक्रीडा का स्मरण न किया जाय।

७ जिह्वा-इन्द्रिय पर अंकुश रक्खे। विकारवर्द्धक आहार-पान का सेवन न करे।

८ अतिभोजन से वचे।

९ साज-शृङ्गार न करे।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए पुरुषो को उल्लिखित वातो पर जैसे ध्यान रखना आवश्यक है, उसी प्रकार ब्रह्मचारिणी महिला को भी। उसे पुरुषो के संसर्ग से उसी तरह वचना चाहिए जिस तरह पुरुष को स्त्री-संपर्क से वचने का विधान किया गया है।

उपर्युक्त नियमो पर दृढ रहते हुए तीन करण और तीन योग से पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना ब्रह्मचर्य महाव्रत कहलाता है।

अपरिग्रह महाव्रत

समस्त पदार्थो मे मूर्छा का अभाव होना अपरिग्रह महाव्रत है। कोई पदार्थ प्राप्त नही है, किंतु तद्विषयक आसक्ति यदि अन्तःकरण मे है तो वह भी परिग्रह मे परिगणित है। अतः सच्चा अपरिग्रही वही है जो जगत् के पदार्थो के साथ-साथ उनसे सम्वन्धित आसक्ति के प्रवल-पाश से अपने को मुक्त रखता है।

समस्त दुःखो का मूल स्त्रोत कामनाएँ हैं। भगवान् महावीर ने सांसारिक दुःखो से छुटकारा पाने का एक अमोघ उपाय वतलाया है—

कामे कमाही,
कमियं खु दुक्खं।

दशवै० अ० २

कामनाओ से ऊँचे उठ जाओ। फिर समझ लो कि दुःख से ऊपर उठ गए।

जब तक अन्तःकरण कामना से कलुषित है, दुःख से मुक्ति पाना सम्भव नही है। कामनाओं की पूर्ति में सुख की गवेषणा करने वाले मृग-मरीचिका में शीतल जल की गवेषणा करते है। उनका सुख-प्राप्ति का स्वप्न अनन्तकाल मे भी साकार होने वाला नही है, क्योंकि कामना तो वह क्षितिज है। जिसका कही ओर-छोर नही है। एक कामना की पूर्ति ही जहाँ सेकड़ो नूतन कामनाओं को जन्म देती है, वहाँ सुख की कल्पना ही कैसे की जा सकती है ?

देवलोक

पूर्वोक्त पाँच महाव्रतों का मनसा वाचा कर्मणा आराधना करने वाले सभी साधक निर्वाण नही प्राप्त कर पाते। चिरपुरातन और समय समय पर होने वाले नूतन कर्म किसी किसी आत्मा मे इतनी गहरी जड़ जमाये होते हैं कि उनका उन्मूलन करने के लिये जन्म जन्मान्तर में साधना करनी पड़ती है, संस्कारों का संचय करना पडता है। इस चिरसाधना के अन्तराल मे ऐसा भी समय आता है जब साधक को शुभ परिणतिजनित पुण्य के प्रभाव से अभ्युदय की प्राप्ति होती है अर्थात् उसे दिव्य लोक (स्वर्ग) मे जन्म धारण करता है। दिव्य लोक सर्वोत्कृष्ट सांसारिक सुख का स्थल है, तथापि मुमुक्षु के लिये वह स्पृहणीय नहीं होता, क्योंकि मानवीय सुख के सदृश ही वह भी स्थायी, परिपूर्ण एवं आत्यन्तिक आतंक प्राप्त करने मे बाधक है। सच्चे मुमुक्षु के लिए वह मंजिल नही, मंजिल तक पहुचने के लिए एक पड़ाव मात्र है।

देवलोक मे सर्वोच्च स्थान पर पांच अनुत्तर विमान है, जिनके नाम विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध है, इन विमानो मे जन्म लेने वाले एक-दो बार जन्म धारण करके ही सिद्धि प्राप्त कर लेते है।

उनसे नीचे ग्रैवेयक विमान हैं। पुरुषाकृति लोक के ग्रीवास्थान मे

होने के कारण उन्हे 'ग्रैवेयक' संज्ञा प्रदान की गई है, इनकी संख्या नौ है।

ग्रैवेयक विमानो के नीचे बारह देवलोक और है जो सौधर्य, ऐशान आदि के नाम से विख्यात हैं।

देवलोको के विषय मे एक बात उल्लेखनीय है। वह यह कि नीचे बारह देवलोको तक मर्त्यलोक के समान शास्य-शासकभाव है। वहां देवगण साधारण प्रजा के समान है, इन्द्र राजा के स्थान पर। इन्द्र के अधीन सेनायें होती है, लोकपाल होता है। मनुष्यो के समान देवो मे भी कभी कभी पारस्परिक संघर्ष हो जाता है। अनुराग, विराग जैसी साधारण मनोवृत्तियाँ वहाँ भी अपना काम करती है। आध्यात्मिक दृष्टि से स्वर्ग या देवलोक कोई स्पृहणीय वस्तु नही है। देवगण अंशतः भी संयम अंगीकार नही कर सकते। साँसारिक सुख एवं विलास के मादक वातावरण मे उनकी आध्यात्मिक चेतना जागृत ही नही हो पाती।

बारह देवलोको में पाँचवा ब्रह्मदेवलोक है। वहा नौ लौकान्तिक देव निवास करते हैं। ये देवर्षि कहलाते है और उनका भवभ्रमण लगभग निकट होता है।

बौद्ध पंचशील

द्वादश देवलोको के नीचे बौद्धमत-सम्मत पाच शीलो को स्थान दिया गया है। शील का अर्थ आचार एवं अनुशासन है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१—अहिंसा
२—अस्तेय
३—ब्रह्मचर्य
४—सत्य
५—मद्यपान त्याग*

---

* पाणी न हन्तव्वो, अदिन्नं नादातव्वं, कामेसु मुच्छा न चरित मुसा न भासितव्वा, मज्जं न पातव्वं। —बौद्धकालीन प्रस्त

यह पंचशील जैनो के महाव्रतों जैसे ही है और उनकी व्याख्या मे ही इनकी व्याख्या आ जाती है। अन्तर केवल पाँचवें शील में है। महाव्रतो मे पांचवां अपरिग्रह है जब कि शीलों में मद्यपान त्याग जैन परम्परा के अनुसार मद्यत्याग महाव्रतो की पूर्वभूमिका मे ही कर दिया जाता है।

वैदिक पंचयम

वैदिक संस्कृति ने भी जीवनोत्थान की मंगलमय प्रेरणा प्रदान करने हेतु पंच महाव्रत और पंचशील की भांति पंच यमो का उल्लेख किया है। यम का अर्थ संयम, सदाचार और अनुशासन है। वे पंचयम इस प्रकार हैं–१. अहिंसा २. सत्य ३. अस्तेय ४. ब्रह्मचर्य ५. अपरिग्रह-अकिंचन

पंच यमों को भी पंचशील की तरह हृदय स्थल पर अंकित किया गया है।

मध्य भाग

नव पद

ओंकार के मध्य भाग मे अर्थात् पश्चाद्वर्ती अंश मे जैन-दर्शन सम्मत नव पदों की स्थापना की गई है। यह नव पद श्रद्धेय है, आराध्य हैं और ॐ पद के ही विभिन्न अङ्ग हैं। इनकी श्रद्धा-आराधना का मुख्य लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना ही है। अतएव ॐ के विकसित भाग पर इन आदर्श नव पदो को स्थान दिया जाना उपयुक्त और युक्तिसङ्गत ही है। 'ओं' के सर्वोच्च भाग पर 'सिद्धाणं' पद का अङ्कन किया गया है। वह भी ध्येय के अनुरूप और सिद्धों की सर्वोच्चता के अनुकूल है। वस्तुतः चरम आध्यात्मिक सिद्धि ही साधक के लिए अभीप्सित होती है और वह सिद्धि जो महान् आत्मा प्राप्त कर चुके हैं, वे उनके परम आराध्य हैं। इनसे 'ॐ' पद की 'सिद्ध' पद के साथ एकरूपता भी ध्वनित होती है।

अहिंसा—सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः —योगसूत्र

उल्लिखित नव पदो का सामान्य परिचय इस प्रकार है:—

णमो दंसणस्स

१ **णमो दंसणस्स:**—दर्शन शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों मे होता है, किंतु यहाँ वह 'श्रद्धा' अर्थ में समझना चाहिए।

साधना चाहे लौकिक हो या लोकोत्तर, सर्वत्र श्रद्धा की अनिवार्य आवश्यकता है। श्रद्धा के विना साधारण लौकिक कार्यों में भी पूरी सफलता नही मिल पाती, तो आध्यात्मिक जगत् के परम तत्त्व की उपलब्धि तो हो ही कैसे सकती है? एक वार महात्मा गांधी ने अहिंसा की चर्चा करते हुए कहा था—'मैं अहिंसा की शक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता हूं। जैसे हिंसा का फल प्रत्यक्ष है—अंगुली पर छुरी चलते ही अंगुली कट जाती है, वैसा ही प्रत्यक्ष फल अहिंसा का भी दिखना चाहिए। मुझे इसमे श्रद्धा है, पर इसके लिए अटूट धैर्य चाहिए। घास के एक तिनके पर जलविंदु लेकर समुद्र खाली करने मे जितनी श्रद्धा चाहिए उससे भी हजार गुणी अधिक श्रद्धा अहिंसा का साक्षात्कार करने मे चाहिए।*

गांधीजी ने अहिंसा की शक्ति के साक्षात्कार के लिए जिस अचल एव अपार श्रद्धा की वात कही है, वही प्रत्येक आध्यात्मिक शक्ति का साक्षात्कार करने मे लागू होती है।

किसी भी विषय मे मनोयोग का समग्र रूप में समर्पित हो जाना, दोलायमान प्रतीति का हट जाना और अचल संकल्प की दृढ़ता उत्पन्न हो जाना श्रद्धा है। इस प्रकार की श्रद्धा अन्तर मे जव प्रादुर्भाव हो जाती है तो समझना चाहिये कि साधक ने कम से कम आधी मंजिल पार कर ली है। अधूरे मन से किसी भी महान् कार्य की सिद्धि नही होती। साधक एकदम आगे वढ़ना चाहता है परन्तु उसकी मानसिक

---

* गाधी—उज्ज्वल वार्त्ता पृ० ३

दुर्बलता उसे चार कदम पीछे घसीट ले जाती है। इसके विपरीत, जब कि ध्येय के प्रति सम्पूर्ण श्रद्धा हृदय मे जागृत होती है तो बिना विशेष कठिनाई के साधक अनायास ही अग्रसर होता चला जाता है। 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'—श्रद्धा मनुष्य को तद्रूप बना देती है।

क्या जैन धर्म मे और क्या इतर धर्मों मे, श्रद्धा को समान रूप से महत्त्व दिया गया है। सम्यक् श्रद्धा के अभाव मे गंभीर से गंभीर ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान नही हो पाता। वह मिथ्याज्ञान ही रहता है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र, सम्यक्श्रद्धा के बिना असंभव है।

सम्यग् दर्शन मुक्ति-महल का प्रथम सोपान है। जिस आत्मा मे एक बार, अल्प काल के लिए भी, सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है, उसका भवभ्रमण सीमित हो जाता है और उसे उस अवधि के पश्चात् निश्चय ही निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। इसी से सम्यग्दर्शन के अपार प्रभाव और महत्त्व की कल्पना की जा सकती है।

आध्यात्मिक साधना के पथ मे श्रद्धा ही साधक का सबसे बड़ा सम्बल है। श्रद्धा से उस साहस और धैर्य की प्राप्ति होती है जिससे असाध्य प्रतीत होने वाला कार्य भी सुसाध्य बन जाता है। अतएव जिस के अन्तः करण में तत्त्व के प्रति हिमालय के समान अविचल श्रद्धा है, वह साधक भाग्यशाली है और उसका भाग्य ईर्ष्या करने योग्य है।

जो लोग श्रद्धा की अवगणना करते हैं, उसे जड़ता का प्रतीक मानते हैं और तर्क को ही तत्त्वनिर्णय की एक मात्र अभ्रान्त कसौटी समझते हैं, वे दयनीय हैं। उन्होंने गहराई मे उतरने का प्रयास ही नही किया है। स्थूल जगत् से ओझल जो रहस्यमय सूक्ष्म किन्तु विराट् तत्त्व हैं, उसकी झांकी श्रद्धा के बिना कदापि देखी नही जा सकती। इसी हेतु नव पदो मे दर्शन को प्रथम स्थान देकर नमस्कार किया गया है।*

---

* विशेष विवेचन देखें लेखक का 'साधना का राजमार्ग—मे सम्यग्दर्शन एक अनुचिन्तन विभाग

णमो नाणस्स:

णमो नाणस्स:—हमारे शरीर मे नेत्रो का जो स्थान है, उससे भी कही अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान आत्मा मे ज्ञान का है। आत्मिक शक्तियों मे ज्ञान सर्वप्रधान शक्ति है। बल्कि यह कहना उपयुक्त होगा कि ज्ञान आत्मा को 'आत्मा' है। ज्ञान के कारण ही आत्मा का जड पदार्थो से वैशिष्ट्य है। नेत्रो के अभाव मे भी मनुष्य कानो से सुन सकता है, नाक से सूंघ सकता है, जीभ से रसास्वादन और स्पर्शेन्द्रिय से स्पर्शानुभूति कर सकता है, किन्तु ज्ञान न होता तो आत्मा मे पूर्ण जडता का ही साम्राज्य होता और उसका पृथक अस्तित्व न होता।

प्रत्येक आत्मा मे अनन्त ज्ञानशक्ति स्वरूपतः विद्यमान है। देश और काल सम्बन्धी उसकी कोई परिधि नही है। तीनो कालो और तीनो लोको को हस्तामलकवत् जानना उसका स्वभाव है। किन्तु जैसे मेघमाला से आवृत्त चन्द्रमा की नैसर्गिक ज्योत्स्ना मन्द और मन्दतर हो जाती है, उसी प्रकार कर्मो से आवृत्त आत्मा की ज्ञान शक्ति भी मन्द और मन्दतर हो रही है। जैसे मेघपटल के अपगमन के अनुपात मे चन्द्रमा का प्रकाश वृद्धिगत होता जाता है, उसी प्रकार ज्यो-ज्यो कर्मावरण क्षीण होता जाता है, त्यो-त्यो आत्मिक ज्ञान की मात्रा भी बढती जाती है। जैसे सम्पूर्ण मेघ हट जाने पर चन्द्रमा अपने स्वाभाविक रूप मे प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार आवरणो का पूर्ण रूपेण क्षय हो जाने पर आत्मा की मौलिक ज्ञानशक्ति परिपूर्ण रूप मे आविर्भूत हो उठती है।

भारतवर्ष के कतिपय दार्शनिको की मान्यता के अनुसार मुक्त दशा मे आत्मा ज्ञानहीन हो जाती है, किंतु वास्तव मे ऐसा होना असम्भव है। ज्ञान और आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध है, ज्ञान के न रहने पर आत्मा के अस्तित्व की कल्पना ही नही की जा सकती। मुक्तात्मा जब समस्त उपाधियो और विकारो से रहित हो जाता है तो उसका प्रधान और अभिन्न गुण भी निरुपाधिक और निर्विकार रूप मे जागृत हो उठता है।

साधना के क्षेत्र में ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह साधन होने से साथ साध्य भी है। सम्यक् श्रद्धा होने पर ज्ञान मे सम्यक्त्व आता है और सम्यग्ज्ञान के प्रकाश मे की जाने वाली साधना ही फलवती होती है।* इसी कारण यहां ज्ञान को नमस्कार किया गया है।

णमो तवस्स

३ मो तवस्स–तीसरा पद 'तप' है। तपश्चरण के विषय में अगणित भ्रान्तियां फैली हुई हैं। उन भ्रांतियों की परम्परा नूतन नही, अति पुरातन है। भगवान् महावीर के समय मे भी बहुत सी भ्रान्तियाँ थी। भगवान् महावीर ने उनके निरसन के लिए प्रचण्ड पुरुषार्थ किया और साधको को एक अभिनव दृष्टि प्रदान की। भगवान् के समय मे नाना विधियों का अवलम्बन करने वाले तापस सम्प्रदाय विद्यमान थे। वे देहदमन को ही तपस्या का स्वरूप समझते थे। पंचाग्नि तपना, कंटकशय्या पर शयन करना, आकण्ठ जलमग्न होकर शीत को सहन करना आदि देहदमन रूप तप के प्रकार थे। महावीर स्वामी ने इस प्रकार की एकान्त बहिर्मुखी तपस्या की बालतप–अज्ञानपूर्ण तपश्चरण कह कर भर्त्सना की और बतलाया कि इससे अभ्युदय के अतिरिक्त निःश्रेयस् नही प्राप्त किया जा सकता।

भगवान् महावीर ने तपश्चरण विषयक प्रचलित दृष्टिकोण मे आमूल संशोधन किया। उसके जड कलेवर मे प्राणो की प्रतिष्ठा की। उसे व्यापक स्वरूप प्रदान किया।

वास्तविक तप इच्छाओं का निरोध करना है। तप के दो रूप हैं–बाह्य और अन्तरंग। अनशन आदि का बाह्य तप और स्वाध्याय, ध्यान, विनय, वैयावृत्य–सेवा, ब्रह्मचर्य, त्याग आदि का अन्तरंग तप मे समावेश होता है।

---

* विशेष विवेचन 'साधना का राजमार्ग' मे–'सम्यग्ज्ञान एक परिशीलना' देखें।

आत्मा को निरावरण एवं निर्विकार बनाने के लिये मुमुक्षु को दो प्रकार के उपायो का अवलम्बन करना पड़ता है। प्रथम अभिनव कर्मों के आस्रवण का निरोध और दूसरे पूर्वसंचित कर्मो का प्रक्षय, इनमे से अभिनव कर्मास्रव के निरोध के तो गुप्ति, समिति, दशविध धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जप, चारित्र आदि अनेक साधन है किन्तु पूर्वसंचित कर्मों के क्षय का अद्वितीय उपाय तपश्चरण ही है।* तप की तीव्र अग्नि में कोटि २ भवो मे संचित कर्मो को भस्म किया जा सकता है।‡ इसके द्वारा अभिनव कर्मो का निरोध भी होता है। यह अद्‌भुत दोहरा सामर्थ्य तप के सिवाय अन्य किसी साधन मे नही है।

समीचीन श्रद्धा और ज्ञान की विद्यमानताओ मे ही तप सम्यक् हो सकता है और तभी वह मुक्ति का निमित्त बनता है। इस तथ्य को सूचित करने के लिए दर्शन और ज्ञान के पश्चात् तपश्चरण को स्थान दिया गया है।

णमो चरित्तस्स

४ **णमो चरित्तस्सः**—चारित्र की परिधि बहुत विस्तृत है। आत्मशोधन के लक्ष्य से जो भी शुभ या शुद्ध अनुष्ठान किया जाता है, सब चारित्र के अन्तर्गत है। सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने चारित्र की व्यापक परिभाषा बतलाते हुए यही कहा है—

असुहाओ विणिवत्ती, सुहे पवित्ती य जाण चरित्ता।

अशुभ व्यापारो से सर्वथा निवृत्त होकर कुशल अनुष्ठान मे परायण होना चारित्र कहलाता है।

---

* आस्त्रव निरोधः संवरः। स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षापरीषहजय-चारित्रैः। तपसा निर्जरा च—तत्त्वार्थसूत्र, ९, १-३

‡ भवकोडिसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ—उत्तराध्ययन सूत्र, ३०, ६

मगर यह परिभाषा पर्याप्त व्यापक होने पर भी चारित्र के समग्र चित्र को उपस्थित नही करती। यह व्याख्या मुख्य रूप से व्यावहारिक चारित्र पर लागू होती है। निश्चय चारित्र की प्राप्ति समस्त प्रवृत्तियो का परित्याग कर देने पर स्वरूपरमण की दशा मे ही होती है।

चारित्र के बिना मुक्ति-साधना की कल्पना तक नही की जा सकती। यही कारण है कि ब्यौरे मे कही कम और कही अधिक भेद होने पर भी जगत् के समस्त धर्मशास्त्रो ने चारित्र की महत्ता को एक स्वर से स्वीकार किया है। वास्तव मे दर्शन और ज्ञान का सुफल चारित्र ही है। जब साधक हेय और उपादेय का विवेक प्राप्त कर लेता है तब हेय के उपादान में सहज ही उसकी प्रवृत्ति होती है। जिस ज्ञान को प्राप्त कर लेने पर तदनुरूप प्रवृत्ति न हो, जो ज्ञान आचार मे परिणत न हो, वह वास्तव मे ज्ञान ही नही है।

साधक गृहस्थ भी होते है और गृहत्यागी—अनगार भी होते है। स्पष्ट है कि दोनो की परिस्थितियाँ इतनी विभिन्न हैं कि उनका क्रिया-कलाप समान नही हो सकता। इसी कारण चारित्र की दो श्रेणिया की गई हैं—देश चारित्र और सकलचारित्र, जिन्हे क्रमशः देशविरती और सर्वविरति भी कहते हैं।

सर्वविरति में पांच महाव्रत और उनके पोषक दूसरे अनेकविध आचार सम्मिलित हैं। महाव्रतो का संक्षिप्त परिचय पहले आ चुका है। उन्ही का आंशिक रूप में आचरण करना देशविरति है। देशविरति में पांच पूर्वोक्त अहिंसा आदि अणुव्रतो के अतिरिक्त सात शीलो का भी समावेश है।

जैन श्रुत का बहुत बड़ा भाग आचार निरूपण ने रोका है। यहा विस्तार के साथ बारीक से बारीक बातो का निरूपण एवं स्पष्टीकरण किया गया है। विस्तारभय से यहाँ उसका उल्लेख मात्र किया जा रहा है :

सम्यक् चारित्र गीता की भाषा मे 'कर्मयोग' कहा जा सकता है। कर्म के लिये गीता की एक आवश्यक शर्त यह है कि वह निष्काम होना चाहिये। जैन शास्त्र भी इस शर्त का अनेकान्त दृष्टि से समर्थन करता है। वहाँ कहा गया है-'ऐहिक लाभ के उद्देश्य से आचार का अनुष्ठान नही करना चाहिये, पारलौकिक लाभ के उद्देश्य से आचार का अनुष्ठान नही करना चाहिए। कीर्ति वर्ण शब्द और प्रशंसा के लिये आचार का अनुष्ठान नही करना चाहिये, केवल विशुद्ध आत्मदशा प्राप्त करने के उद्देश्य से ही आचार का अनुष्ठान करना चाहिये।*

कहा जा सकता है कि यदि विशुद्ध आत्मदशा की प्राप्ति के उद्देश्य से साधक आचार का अनुष्ठान करता है तो उसमे निष्कमंता कहां रही ? किन्तु गीता की निष्कमंता का अभिप्राय भी लोकैषणा से ही समझना चाहिए। साधना की प्राथमिक अवस्था मे आत्मशुद्धि की पावन और प्रेरक अभिलाषा विद्यमान रहती ही है। उसके अभाव मे कोई साधनाक्षेत्र मे अवतीर्ण नही हो सकता। प्राथमिक अवस्था के पश्चात् माध्यमिक अवस्था मे भी वह अभिलाषा बनी रहती है, परन्तु पहले जैसी व्यक्त रूप मे नही, अव्यक्त स्थिति मे रहती है, साधक जब उच्च भूमिका पर चरण न्यास करता है और वीतरागता प्राप्त कर लेता है तभी पूर्ण निष्काम दशा प्राप्त होती है। इसीलिये कहा जाता है कि मुक्ति प्राप्त वही करता है जिसमे मुक्ति की भी कामना नही रह जाती।‡

---

* नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा,
नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा,
नो कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठयाये आयारमट्ठिट्ठिज्जा,
नन्नत्थ आरहंतेहिं हेउहिं आयारमहिट्ठिज्जा।

—दसवेयालियसुतं, ६, ४

‡ यस्य मोक्षेऽप्यनाकाङ्क्षा स मोक्षमधिगच्छति।

इस प्रकार आत्मशोधक अनुष्ठान में प्रवृत्ति करना और आत्मस्वरूप में रमण करना चारित्र नामक चौथा पद है।*

५ णमो लोए सव्वसाहूणं मनुष्यलोक में विद्यमान सर्व साधुओं को नमस्कार हो। जैसे मंत्रसाधक अपने लक्ष्य में एकनिष्ठ होकर, आने वाले समस्त उपसर्गों को पूर्ण दृढ़ता के साथ सहन करता है, उसी प्रकार मुमुक्षु साधक शुद्ध आत्मोपलब्धि के उद्देश्य से निरन्तर जागृत अप्रमत्त रह कर और जागतिक प्रपंचों से दूर रह कर साधना करता है, वह साधु कहलाता है।

साधु पांच महाव्रतों का पालक, पांचो इन्द्रियों का विजेता, क्रोध मान माया लोभ से निवृत्त, मन वचन काय, को पाप व्यापार से निवृत्त करने वाला, समिति गुप्ति का आराधक, क्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौच आकिंचन्य ब्रह्मचर्य आदि का आराधक, संवेगवान्, समभाव के शीतल सरोवर मे अवगाहन करने वाला, जगत् मे स्थित रहकर भी कमलपत्र-वत् जगत् से अलिप्त, स्वाध्याय एवं ध्यान मे निमग्न और वैराग्यभाव की साक्षात् प्रतिमा होती है।

साधु जीवन अंगीकार करने का प्रधान हेतु आत्म कल्याण करना है, किन्तु आत्म कल्याण का प्रथम आधार 'सर्व भूतात्मभूतता' अर्थात् प्राणि मात्र को आत्मवत् समझना है। यह उदार भावना जिसके हृदय मे मूर्त्तिमती हो उठती है, वही सच्चे संयम की आराधना कर पाता है। वह परकल्याण को आत्म कल्याण का अनिवार्य अंग मानता है और जगत् के उद्धार मे आत्मा का उद्धार मानकर स्व-पर मे समान भाव धारण करके प्रवृत्ति करता है। अतएव उसका जीवन दूसरों के लिए भी महान् वरदान होता है।

---

* साधना का राजमार्ग मे 'सम्यक् चारित्र : एक परिचय रेखा' देखें

परकल्याण करने की बुद्धि से किया जाना वाला कर्त्तव्य अहंकार उत्पन्न करता है। उससे अपने प्रति उच्चता और उपकरणीय व्यक्ति के प्रति हीनता की भावना भी उत्पन्न हो सकती है। किन्तु जो परोपकार स्वोपकारबुद्धि से किया जाता है, उसमे इस प्रकार की अवाछनीय वृत्तियो के पैदा होने का खतरा नही रहता। आत्म कल्याण के लिये परकल्याण करने वाला दूसरो पर ऐहसान नही लादता, अंहकार से बच जाता है और प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखने के कारण, प्रत्युपकार न होने की स्थिति में भी निराशा का अनुभव नही करता। वह निरीह भाव से सतत परोपकार मे लीन रह सकता है।

इस प्रकार लोक का असाधारण कल्याण करता हुआ भी साधक आत्म-कल्याण करनेवाला ही कहलाता है। लोक कल्याण का यह उच्चतम आदर्श है, अनूठी कला है।

कई लोग कहा करते हैं कि साधुत्व को अङ्गीकार करना एक प्रकार की पलायन वृत्ति है, अपने सामूहिक कर्त्तव्यो के परित्याग की स्वीकृति है या अपने व्यक्तित्व की परिधि को अधिक से अधिक सिकोड़ कर अपने तक ही सीमित कर लेना है। ऐसा कहने वाले सज्जनो ने साधुता की महान् मर्यादा को सहृदयता के साथ समझने का कभी प्रयत्न ही नही किया है। सत्य इससे एकदम विपरीत है। साधुता पलायनवृत्ति नही, आत्मा के शाश्वत शत्रुओ पर आत्यन्तिक विजय प्राप्ति का तुमुल संघर्ष है। न उसमे सामूहिक कर्त्तव्यो का संन्यास है, न व्यक्तित्व का सङ्कोचीकरण है, बल्कि एक परिवार, समाज अथवा राष्ट्र तक मर्यादित 'अहम्' या आत्मीयता को विश्वव्यापी विराट् स्वरूप प्रदान करना है। साधु किसी एक जाति, समाज या राष्ट्र का नही होता, वह सबका बन जाता है। सङ्कीर्ण हृदय के लोग ही ऐसा कहते है कि जो सबका है वह किसी का नही है!

जब एक व्यक्ति साधु जीवन स्वीकार करता है तब वह किसी

सत्कर्म का परित्याग नही करता, बल्कि अपने जीवन की रिक्तता की पूर्त्ति करता है। अर्थात् गृहस्थावस्था मे जिन सत्कर्मों को कर नहीं पाता था या करता हुआ भी एक सीमा से आगे नही बढ पाता था, उनकी परिपूर्णता के लिए प्रयास करता है। ऐसी स्थिति मे साधु जीवन पर किये जाने वाले आक्षेपो के लिए कही कोई अवकाश ही नही है।

मानवजाति में जो प्रशस्त और स्पृहणीय वृत्तियाँ विद्यमान है, उनका अधिकाश श्रेय समय-समय पर वसुधा को पावन करने वाले संत-जनों को ही है। वही चिरकाल से मानव-आत्मा को देवत्व की महिमा से मंडित करने का उद्योग करते आ रहे हैं। अतएव नव पदों में उन्हें स्थान प्रदान किया गया है।

णमो उवज्झायाणं

णमो उवज्झायाणं:—उपाध्याय परमेष्ठी को नमस्कार हो। उपाध्याय वह मुनीन्द्र कहलाते है जिन्होने गुरु के चरण-शरण मे रह कर आगमो का गम्भीर अध्ययन किया है, जो शब्दार्थ मे पारङ्गत होते हैं, संघ में अध्ययन-अध्यापन का उत्तरदायित्व वहन करते है और विद्या की परम्परा को चालू रखते है। उपाध्याय परमेष्ठी ग्यारह अङ्ग-शास्त्रो और चौदह पूर्वगत श्रुतों † के ज्ञाता होते है अथवा जिस काल मे जितना श्रुत भाग उपलब्ध हो उसके तलस्पर्शी वेत्ता होते हैं।

---

* आचार, सूत्रकृत आदि अङ्गशास्त्र कहलाते हैं।

† दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्ग के पांच विभागो मे से एक विभाग पूर्वगत श्रुत है। उसके चौदह उप विभाग है जो पूर्व नाम से प्रसिद्ध हैं।

उपाध्याय भी सामान्यतः साधु ही होते है, तथापि उनका पृथक् निर्देश करने का कारण उनके उत्तरदायित्व एवं कर्त्तव्य की विशिष्टता है। पूर्वकाल मे श्रुत लिपिबद्ध नही किया गया था।' श्रुति परम्परा से ही वह चलता था। गुरु अपने शिष्य को और शिष्य अपने शिष्य को मौखिक रूप से ही आगम पढ़ाता था। इस प्रकार आगम अविच्छिन्न प्रवाह को प्रचलित रखना कोई साधारण कार्य नही था। इसी उद्देश्य से साधुसंघ में उपाध्याय पद की पृथक् व्यवस्था की गई थी। शास्त्र जब लिपिबद्ध होने लगे तब भी उपाध्याय पद का वैशिष्ट्य अक्षुण्ण रहा। आधुनिक काल मे यद्यपि शास्त्र मुद्रित और अनूदित होने लगे है तथापि उनके विशेषज्ञ के रूप मे उपाध्यायो की उपयोगिता कम नही है।

शास्त्र मे उपाध्याय के पच्चीस गुणो का उल्लेख मिलता है। उसे द्वादश अङ्गो का वेत्ता, चरण-करण निष्णात, आठ प्रकार से प्रभावना करके धर्म-शासन की महिमा वृद्धि करनेवाला और मन, वचन एवं काय के अप्रशस्त व्यापारो का निग्राहक होना चाहिए।

· इस प्रकार परमागम एवं तत्त्व विद्या की शिक्षा देने वाले, ज्ञान की चिरागत ज्योति को जाज्वल्यमान रखने वाले उपाध्याय परमेष्ठी को यहाँ छठा स्थान दिया गया है।

णमो आयरियाणं

णमो आयरियाणं आचार्यो को नमस्कार हो।

श्रमणसंघ मे आचार्य का वही स्थान है जो सेना मे सेनापति का होता है। वह संघ के नेता होते है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्याचार नामक पाच आचारो का वे स्वयं पालन करते और दूसरो से पालन करवाते हैं।

साधु और उपाध्याय के योग्य पूर्वोक्त गुण तो आचार्य मे होते ही

हैं, इनके अतिरिक्त भी अनेक विशेषतायें होती हैं। आचार्य की आठ सम्पदायें और छत्तीस गुण प्रसिद्ध हैं। आठ सम्पदायें इस भांति हैं।*

१. आचार सम्पदा–महाव्रत, समिति, गुप्ति, रूप आचार में संलग्न होना, पांच आचारों का दृढ़ता के साथ पालन करना, कठिन से कठिन प्रसंगों में भी उत्कृष्ट आचार से न डिगना आदि।

२. श्रुत सम्पदा–अपने समय में उपलब्ध समस्त श्रुत का परिज्ञान होना, स्वसमय के साथ परसमय में भी पारंगत होना, अपने युग के विद्वानों में मूर्धन्य होना, उत्सर्ग मार्ग का परिस्फुट विवेक होना आदि।

३. शरीर सम्पदा–प्रभावशाली एवं तेजस्वी शरीर का धारक होना, अंधत्व बधिरत्व आदि त्रुटियों का न होना।

४. वचन सम्पदा–वाणी में माधुर्य हो, हितकारिता हो, जिससे सुन कर प्रतिपक्षी भी प्रभावित, चकित और आनन्दित हो उठें। मुख से वचन निकलें जैसे चन्द्रमा से अमृत झरता हो। वाणी सार्थक, परिमित और प्रिय हो।

५. वाचना सम्पदा–शास्त्रों के पठन-पाठन के विषय में असाधारण कौशल होना, शिष्य की पात्रता और योग्यता को समझ कर तदनुरूप ही उसे ज्ञानामृत का पान कराना।

६. मति सम्पदा–शास्त्र दिशा दर्शक होते हैं। उनमें प्रत्येक जिज्ञासु या प्रतिवादी के प्रत्येक प्रश्न का सीधा उत्तर नहीं मिला करता। उसे पाने के लिए बुद्धि-प्रतिभा चाहिये। ऐसी विशिष्ट प्रतिभा ही मति सम्पदा है। आचार्य में असाधारण बुद्धिवैभव चाहिये।

७. प्रयोग सम्पदा–विजिगीषा से आये शास्त्रार्थिक वादियों के दर्प को शान्त कर देने की विशिष्ट क्षमता प्रयोग सम्पदा है।

---

* दशाश्रुतस्कंध, दशा ४, व स्थानाङ्ग ८ ठाणा

८. संग्रह सम्पदा—पहले कहा जा चुका है कि आचार्य संघ के नायक होते हैं। नायक शासक होता है और शासक के नाते उन पर सम्पूर्ण संघ के योग-क्षेम का उत्तरदायित्व रहता है। संघ के मुनियों को कोई अनावश्यक एवं अनुचित कष्ट न हो और उनको संयमाराधना मे विघ्न उत्पन्न न हो, ऐसी दूरदर्शिता आचार्य मे होनी चाहिए। मुमुक्षु एवं वैराग्यवान् शिष्यों का संग्रह करना, उनके लिए आवश्यक उपकरणों की व्यवस्था करना, समुचित सुख-सुविधा उत्पन्न कर देना संग्रह-सम्पदा मे परिगणित है।

कोई-कोई इन आठ सम्प्रदाओ के चार-चार भेद करके और उनमें चार प्रकार के विनयो की गणना करके ३६ गुणो की पूर्त्ति करते है। किसी के मत से १२ तप, १० यतिधर्म, ५ आचार, ३ गुप्ति और ६ आवश्यक मिलकर ३६ गुण होते हैं। कही-कही इन गुणो मे ५ महाव्रतों ५ आचारो, ५ समितियो, ३ गुप्तियो, ५ इन्द्रियों के दमन, ६ ब्रह्मचर्य गुप्तियो तथा ४ कषायों के परित्याग की गणना की गई है। कही जाति-सम्पन्नता आदि गुण इनमे परिगणित किए गए हैं।

गुणो के नामनिर्देश मे शाब्दिक अन्तर होने पर भी कोई वास्तविक अन्तर नही हैं। पूर्वोक्त गुणो का स्वरूप इतना विस्तृत है कि उनमे एक दूसरे का अनायास ही समावेश किया जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि संघ के नेता आचार्य का वाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्व प्रभावशाली होना चाहिए। उनकी प्रत्येक क्रिया आदर्श हो, उनका ज्ञान भण्डार अक्षय हो, प्रतिभा अनुपम हो, संघ का उत्कर्ष वहुत अंशो मे आचार्य की सूझ-बूझ पर निर्भर रहता है।

नमो अरिहंतणं

णमो अरिहंताणं—अरिहन्त भगवान् को नमस्कार हो।

अरिहन्त का सीधा-सादा अर्थ है—शत्रुओ का हनन करने वाला।

किन्तु अध्यात्म शास्त्र में 'अरि' का अर्थ भिन्न है। वहाँ किसी व्यक्ति, समूह या राष्ट्र आदि को अरि नहीं माना जाता। अध्यात्मवेत्ता बहिर्दृष्टि से किसी तथ्य पर विचार नहीं करते। उनकी दृष्टि अन्तर्मुखी और तत्त्वस्पर्शिनी होती है। उनका लक्ष्य अमोघ होता है।

वास्तव में शत्रु वही है जो आत्मिक हित का विघात करता है, जिसके कारण आत्मा अपने सच्चिदानन्दमय स्वरूप से च्युत हो रहा है, जिसने आत्मा को उसके अनन्त-असीम नैसर्गिक वैभव से वंचित कर रक्खा है। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर आत्मा के साथ बद्ध कर्म प्रवाह ही उसका असली शत्रु है। स्वभाव से आत्मा सर्वथा निर्विकार, निष्कलंक, चिन्मय, आनन्दमय, परमज्योतिस्वरूप तथा अनन्त वीर्यमय है। किन्तु कर्मावरणों ने उसके इस स्वरूप को आवृत कर दिया है। महापुरुषों के महामार्ग का अवलम्बन करके उन आवरणों को क्षीण एवं विनष्ट करने का जो पुरुषार्थ किया जाता है, वही साधना है। साधना का स्तर ज्यों-ज्यों ऊँचा उठता जाता है, आवरण शिथिल होते जाते हैं और उसी अनुपात मे आत्मा का सहज शुद्ध स्वरूप प्रकाशित हो जाता है।

जैन शास्त्रों मे आत्मा के विकास क्रम का अतीव हृदयग्राही, क्रमबद्ध एवं तर्कसंगत सांगोपांग वर्णन उपलब्ध होता है।

आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य गुणों का विघात करने वाले कर्म समूल नष्ट हो जाते हैं, तब आत्मा शरीरस्थ अवस्था में ही निर्मलता प्राप्त करके सर्वज्ञाता, सर्वदर्शी, पूर्ण वीतराग और अनन्त शक्तिसंपन्न परमात्मा बन जाता है। उसे जीवन्मुक्त दशा प्राप्त होती है। वही महावीर परमात्मा 'अरिहन्त' कहलाते हैं। यद्यपि अरिहन्त को सिद्ध मुक्ति नहीं प्राप्त होती तथापि वह निष्कलंक हो जाता है।

यही अरिहन्त परमात्मा मुक्ति के मार्ग का प्रकाश करते हैं। इन्हीं से अज्ञानावृत जगत् के जीवों को ज्ञान की दिव्य ज्योति प्राप्त होती है। अतएव वे हमारे आराध्य हैं।

णमोसिद्धाणं

नमो सिद्धाणं:—सिद्ध भगवन्तो को नमस्कार हो।

साधना का चरम लक्ष्य सिद्ध पद की प्राप्ति है। इस पद की प्राप्ति होने पर आध्यात्मिक विकास परिपूर्ण हो जाता है। समस्त औपाधिक भावो की निवृत्ति हो जाने से आत्मा का विशुद्ध सहज स्वभाव प्रकट हो जाता है।

अरिहन्त अवस्था मे घाति कर्मों के क्षय हो जाने से अनन्त ज्ञानादि गुण प्रकट हो जाते हैं, फिर भी भवोपग्राही, चार अघाति कर्म शेष रहते हैं, जिनमे आयु कर्म भी सम्मिलित है। आयु कर्म की समाप्ति जब सन्निकट होती है तो अरिहन्त भगवान् उच्चकोटि के ध्यान का अवलंबन करके शीघ्र ही शेष कर्मों को क्षीण कर देते हैं और विदेह दशा प्राप्त करके सिद्धत्व प्राप्त कर लेते हैं।

मुक्त दशा मे सूक्ष्म या स्थूल कोई शरीर नहीं रह जाता, अतएव आत्मा का अगुरु लघुत्व गुण व्यक्त हो जाता है। उनका ऊर्ध्वगमन स्वभाव भी, जो कर्मों के आवरणो से विकृत हो रहा था, प्रकाश मे आ जाता है। अतएव मुक्त होते ही आत्मा ऊर्ध्वगति करके लोक के ऊर्ध्व भाग तक, एक ही समय मे, जा पहुँचता है।

जैसे जल मत्स्य को, और लोहे की पात रेलगाड़ी की गति मे सहायक होता है, उसी प्रकार धर्मास्तिकाय नामक एक अमूर्त्त द्रव्य जीव और पुद्गल की गति मे सहायक होता है। जहाँ तक धर्मास्तिकाय विद्यमान है, वहाँ तक का आकाश-भाग लोकाकाश कहलाता है। उसके आगे का आकाश अलोकाकाश के नाम से प्रसिद्ध है। ऊर्ध्वगामी सिद्धात्मा, जहाँ तक धर्मास्तिकाय का सद्भाव है, बराबर गति करता है। धर्मास्तिकाय की अविद्यमानता में उसकी गति प्रतिहत हो जाती है।*

---

* अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोंदि चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झइ॥ औपपातिक सूत्र

सिद्धिपद के विषय मे कहा गया है कि—वह पद शिव अर्थात् सब प्रकार के उपद्रवों से रहित, अचल, अरुज—समस्त व्याधियों से रहित, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध और पुनरागमन से रहित है। सिद्ध भगवान् सदाकाल के लिए इस प्रकार के परमोत्तम पद को प्राप्त कर लेते हैं।

सिद्ध भगवान् मे निम्नांकित आठ प्रधान गुण होते है—

१—अनन्त ज्ञान

२—अनन्त दर्शन

३—अव्याबाधता

४—अगुरुलघुत्व

५—अमूर्त्तत्व

६—अनन्त वीर्य

७—अक्षय स्थिति

८—अनन्त चारित्र

सिद्ध का स्वरूप वस्तुतः शुद्ध आत्मा का स्वरूप है। उस स्वरूप का वर्णन करने में शब्द, चिन्तन करने मे मति, और विकल्प करने मे तर्क समर्थ नही है।* बड़े २ ज्ञानी भी उस अनिर्वचनीय, अचिन्त्य और अतवर्य स्वरूप को कहने में अपना असामर्थ्य घोषित करने मे ही अपना गौरव मानते है।

भारतीय संस्कृति में : मुक्ति

प्रत्येक आत्मवादी आस्तिक दर्शन के समक्ष एक जटिल समस्या उपस्थित रही है। वह यह है कि आखिर आत्मा की चरम परिणति क्या है? जन्म मरण के विषम चक्र में फंसा रहना और अनादि

---

* सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया।
—आचारांग श्रु. २ अ. ५ उ. ६.

काल से लेकर अनन्त काल तक इधर-उधर भटकना ही क्या इसके लिए निसर्ग का विधान है ? सभी दार्शनिक जन्म-मरण को दुःख मानते हैं और दुःख आत्मा का स्वरूप नहीं है तो क्या ऐसी भी स्थिति नहीं आ सकती है कि आत्मा को इस दुःख से छुटकारा मिले ? अज्ञान, भ्रान्ति या मूढता यदि आत्मा की शाश्वत सहचरी नहीं है और चेतना ही उस का अभिन्न स्वरूप है तो वह शुद्ध चेतना, जिसमें अज्ञान का मिश्रण न हो, कभी उसे नसीब होती है ?

भारतीय दर्शनों ने इस पर विचार किया है और लगभग सभी एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि आत्मा की एक अन्तिम स्थिति है, जिसे मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण कहते हैं। मुक्त होने पर अनादिकालीन भव-भ्रमण के दुःख से छुटकारा हो जाता है। किन्तु मुक्तदशा में आत्मा किस स्थिति में रहता है और वह दशा शाश्वतिक है अथवा नहीं, इस विषय में विभिन्न दर्शनशास्त्री एकमत नहीं हैं।

बौद्धदर्शन आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं करता तथापि चार्वाक की भांति पुनर्जन्म, बन्ध और मोक्ष का निषेध नहीं करता। उसकी मान्यता के अनुसार विश्व के अन्यान्य पदार्थों की भांति चित्त क्षण भी स्वभावतः विनाशशील हैं, उनका प्रवाह—सन्तान निरन्तर चालू रहता है। पूर्ववर्ती चित्तक्षण से उत्तरवर्ती चित्तक्षण की उत्पत्ति होती रहती है। मरणकाल में जो चरमसमयवर्ती चित्तक्षण होता है, उससे परभव के जन्म का प्रथम चित्तक्षण उत्पन्न होता है और इस प्रकार जन्म-जन्मान्तर की धारा प्रवाहित होती रहती। इस धारा का अन्त आ जाना अर्थात् चित्तसन्तति का निरोध हो जाना ही मुक्ति है।

थोड़े से विचार से ही यह तथ्य सामने आ जाता है कि बौद्धसम्मत इस मुक्ति में खोना ही खोना है, पाना कुछ नहीं है। अपने आपको अनन्त शून्य में विलीन कर देना है। यह किसी को स्पृहणीय प्रतीत नहीं हो सकता। वास्तव में ऐसी मुक्ति लाभ का नहीं, घाटे का ही सौदा है।

वैदिक परम्परा के मुक्ति के सम्बन्ध में एकमत्य नहीं। वैशेषिक-दर्शन के प्रणेता कणाद की मुक्ति का स्वरूप भी कुछ ऐसा ही है। ज्ञान और आनन्द ही ऐसे गुण हैं जो आत्मा को जड़ पदार्थों से पृथक् करते हैं। यही आत्मा का असाधारण और सर्वोत्तम वैभव है। यदि यह वैभव छिन हो गया, लुट गया तो समझना चाहिये कि आत्मा का सर्वस्व लुट गया। उसके पास अपना कुछ भी शेष नहीं रहा। फिर जड़ से आत्मा में वैशिष्ट्य नहीं रह जाता। किन्तु कणाद ऐसी ही मुक्ति का प्रतिपादन करते हैं। वे मुक्ति में आत्मा का अस्तित्व तो स्वीकार करते मगर ज्ञान और आनन्द से उसका सर्वथा वंचित हो जाना मानते हैं। उनके कथनानुसार मुक्त दशा में 'शुद्ध' आत्मा रह जाता है और 'शुद्ध' का अर्थ है बुद्धि सुख आदि समस्त विशिष्ट गुणों का अभाव हो जाना।

जिस ज्ञान में विभ्रम या विपर्यास या अपूर्णता है, वह औपाधिक है। जो आनन्द इन्द्रियों के माध्यम से अनुभूति में आता है और इस कारण जो पराश्रित है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। निरावरण और निरुपधिक अवस्था में इन विभावों का अन्त हो जाना तो स्वाभाविक है किन्तु शुद्ध संवित् और आत्मानन्द का भी अन्त मानना तो प्रकारान्तर से आत्मा का ही विनाश मानना है। ऐसी मुक्ति का अर्थ है आत्मा को पाषाणखंड के सदृश जड़ बना देना।

कतिपय वैदिक ऋषि मुक्तात्मा के सर्वज्ञ होने की संभावना को स्वीकार नहीं करते। उनका तर्क यह है कि इन्द्रियों के द्वारा वर्तमान कालीन और उनमें भी सम्बद्ध पदार्थ ही जाने जाते हैं। कालव्यवहित अनागत और अतीत पदार्थ, देशव्यवहित दूरवर्ती पदार्थ और स्वभावव्यवहित परमाणु आदि इन्द्रियगोचर नहीं होते। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष की सत्ता उन्हें स्वीकार नहीं है।

सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार न करने पर [illegible] प्रकार टिक सकता है ? इस समस्या को [illegible] नित्य और अपौरुषेय माना गया है।

प्रस्तुत प्रश्न का सम्बन्ध दर्शनशास्त्र से है, [illegible] इस विषय की मीमांसा यहाँ नहीं [illegible] विषय मे ही विचार करना है और देखना है कि [illegible] मे क्या स्थिति होती है ? [illegible]

सर्वज्ञता के पक्ष और विपक्ष मे बहुत कुछ [illegible] भी अधिक चिन्तन किया गया है। फिर भी [illegible] सर्वसम्मत निर्णय पर नही पहुँच सके।

इस संबंध मे एक तर्क, जो [illegible] मे उद्भूत होता है। आत्मा स्वभावतः [illegible] विज्ञानघन और चिदानन्दमय स्वीकार किया है [illegible] अज्ञान और मिथ्यात्व है, वह औपाधिक है, [illegible] मुक्त अवस्था मे यदि समस्त औपाधिक भावों [illegible] जाती है तो अज्ञान की भी निवृत्ति हो जाना निश्चित है। [illegible] का संक्षय हो जाने पर पूर्ण ज्ञानमय स्थिति का [illegible] ऐसा ज्ञान हो जो विशुद्ध है अर्थात् जिसके साथ अज्ञान [illegible] सर्वज्ञता कहलाता है। मुक्तदशा मे सर्वज्ञता [illegible] प्रकार अनिवार्य हो जाता है।

मुक्तदशा समस्त आवरणों का आत्यन्तिक क्षय [illegible] होती है, अतएव वह शाश्वत ही होनी चाहिये। विकार [illegible] जनक है और जब पूर्ण निर्विकार स्थिति एक बार उत्पन्न हो [illegible] तो विकार का अहेतुक उद्भव संभव नही है। इसके अतिरिक्त [illegible] पर्याय या मानवजीवन के समान मुक्तपर्याय भी अल्पकालीन हो [illegible] मुक्ति का कोई महत्त्व नही रह जाता जिसके लिये साधना का [illegible] आयोजन किया जाय। अतएव अवतारवाद की अवधारणा न करना [illegible]

तो आलंकारिक कथन ही समझना चाहिये। वस्तुतः मुक्तात्मा को पुनः अवतरित होकर जन्म जरा-मरण की पीड़ा की परिधि में नहीं आना पड़ता।

औपपातिक सूत्र मे मुक्तात्माओं का वर्णन सम्पन्न सुन्दरता के साथ किया गया है। उसका सार यहाँ अङ्कित कर देना उपयुक्त ही होगा।

भव से मुक्त होते समय—चरम शरीर का परित्याग करते समय शरीर की जो आकृति होती है, मुक्तात्मा उसी आकृति मे सदा सन्निविष्ट रहते हैं। अन्तर केवल इतना ही पड़ता है कि मुक्त होने पर शरीर की अवगाहना का तीसरा भाग कम हो जाता है।१

सिद्ध जीवों को पृथक-पृथक स्थान की आवश्यकता नहीं होती। अमूर्त्त होने के कारण जहाँ एक सिद्ध है वहाँ अनन्त सिद्ध रहते हैं।२

सिद्ध जीव अशरीर होते हैं, अतएव सशरीर अवस्था मे शरीर के कारण आत्म-प्रदेशो मे जो पोलापन रहता है, वह उस अवस्था मे नहीं रहता। वे केवल ज्ञान-दर्शन मे सदा उपयुक्त रहते है। सर्व देश-काल वर्त्ती भावो को केवल ज्ञान से जानते हैं और केवलदर्शन से देखते हैं।३

पूर्ण रूप से अव्याबाध को प्राप्त मुक्तात्माओं को जो अनुपम आत्मानन्द प्राप्त रहता है, वह न तो मनुष्यों को प्राप्त है, न स्वर्गलोक-

---

१ दीहं वा हस्सं वा जं चरिमभवे हवेज्ज संठाणं।
तत्तो तिभागहीणा, सिद्धाणोगाहणा भणिया।

२ जत्थ य एगो सिद्धो तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का।
अन्नोन्नसमवगाढा, पुट्ठा सव्वे वि लोगंते।

३ असरीरा जीवघणा उवउत्ता दंसणे य नाणे य।
सागारमणागारं लक्खणमेयं तु सिद्धाणं।

वासी देवो को हो। सिद्धिसुख की तुलना मे स्वर्ग का सुख किसी गिनती मे नही है। देवो को जितना सुख है उसे यदि भूत भविष्यत् और वर्तमान काल के समयो से गुणित कर दिया जाय और उसके अनन्त वर्ग किए जाएँ तो भी वह मुक्तिसुख की समानता नही कर सकता।४

भाषाविषयक कौशल से अछूता कोई म्लेच्छ मनुष्य किसी अत्यन्त सुन्दर नगर के अद्‌भुत सौन्दर्य का अनुभव करके भी उसका यथा तथ्य वर्णन नही कर सकता, उसी प्रकार मुक्तिसुख का वर्णन शब्दो द्वारा नही किया जा सकता। उसके वर्णन के लिए कोई सत् उपमा नही है। हाँ, असत् उपमा का आश्रय लेकर कहा जा सकता है—जैसे कोई बहुत दिनो का भूखा-प्यासा 'सर्व कामगुणित' आहार करके भूख-प्यास से छुटकारा पाकर अमृत से तृप्त हुआ सा अनुभव करता है, उसी प्रकार अतुल अव्यावाध और शाश्वत् सुखमय अवस्था मे मुक्तात्मा विराजमान रहते हैं।५

मुक्तात्मा समस्त दु:खो से पार हो चुके है, जन्म जरा मरण और बन्धन से विमुक्त हैं तथा शाश्वत सुख का अनुभव करते है।६

---

४ णवि अत्थि माणुसाणं, तं सोक्खं णवि य सव्वदेवाण।
जं सिद्धाणं सोक्खं, अव्वाबाहं उवगयाणं।
जं देवाणं सोक्खं, सव्वद्धापिंडियं अणंतगुणं।
ण य पावइ मु त्तसुहं, णंताहि वग्ग वग्गूहि।

५ जइ णाम कोई मिच्छो नगरगुणे बहुविहे वियाणंतो।
न चएइ परिकहेउं, उवमाएँ तहि असंतीए।
जह सव्वकामगुणियं, पुरिसो भोत्तूण भायणं कोइ।
तण्हा छुहाविमुक्को, अच्छेज्ज जहा अमियतित्तो।

६ तित्थिण्णा सव्वदुक्खा, जाइजरामरण बन्धणविमुक्का।
अव्वाबाहं सुक्खं, अणुहोंति सासय सिद्धा।
—औपपातिक सूत्र, सिद्धप्रकरण।

मुक्ति के स्वरूप मे जिस प्रकार मतविभिन्नता देखी जाती है, उसी प्रकार उसके कारणों के संबंध मे भी। उसका उल्लेख यथास्थान किया जा चुका है। हम बतला आये है कि मुक्ति जैसे परम और उत्तम ध्येय की प्राप्ति सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् चारित्र के बिना संभव नही है।

जो लोग अकेले ज्ञान से मुक्ति की कल्पना करते हैं, उन्हें उत्तर देते हुए और चारित्र का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए महान् आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—समग्र श्रुतज्ञान का फल चारित्र है और चारित्र का फल निर्वाण है।

निर्यामक (मल्लाह) कितना ही कुशल क्यों न हो, अनुकूल पवन के बिना वणिक् को उसके अभीष्ट लक्ष्य पर नही पहुंचा सकता—महार्णव के किनारे नही ले जा सकता, इसी प्रकार कोरा ज्ञान, चारित्र रूप अनुकूल पवन के अभाव मे आत्म-पोत को संसार-सागर से पार नही उतार सकता। ज्ञानगर्विष्ठ वह सोचते है कि हम ज्ञान के ही सहारे पार लग जायेंगे, वे भ्रम मे हैं और किनारे के निकट पहुंच कर चारित्र के अभाव मे पुनः संसार-सागर मे डूब जाते हैं।

जिसने अगस्त्य की भांति श्रुत-वारिधि का पान कर लिया है, प्रगाढ पाण्डित्य प्राप्त कर लिया है, किन्तु उसे आचरणगत नही किया, उसके लिये वह अगाध ज्ञान भी उसी प्रकार निरर्थक है जैसे अंधे के आगे जलाये गये लाखों करोडों दीप।*

---

* सामाइयमाइयं सुयनाणं जाव बिंदुसाराओ।
तस्सवि सारो चरणं, सारो चरणस्स निव्वाणं ॥११२६॥
जह छेयलद्धनिज्जामओऽवि वाणियगइच्छियं भूमिं।
वाएण विणा पोओ न चएइ महण्णवं तरिउं ॥११२७॥
तह नाणलद्धनिज्जामओऽवि सिद्धिवसहिं न पाउणइ।
निउणोऽवि जीवपोओ, तवसंजम-मारुयविहूणो ॥११२८॥
सुबहुंपि सुयमहीयं किं काहिइ चरणविप्पहीणस्स।
अंधस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडीवि ॥११२९॥ —आव. निर्युक्ति

इस प्रकार पहुँचे हुए साधक ज्ञान और क्रिया से समुचित समन्वय पर भार देते हैं। उनका कथन है कि ज्ञान हीन क्रिया जैसे निरर्थक है, क्रियाहीन ज्ञान भी उसी प्रकार व्यर्थ है। इस भाव को व्यक्त करने के लिये जैनागमो मे एक बडा सुन्दर रूपक आया है।

एक विशाल वन मे दावानल सुलग उठा। दुर्भाग्य से दो व्यक्ति एक अंधा और एक पंगु उसमे फँस गये। अंधा मनुष्य दावानल की चपेट मे आने से बचने के लिये भागा। किन्तु उसे ज्ञात नही था कि किस ओर भागने से प्राणरक्षा होगी ? बिना जाने ही वह भाग खड़ा हुआ। परिणाम यह हुआ कि उसकी दौड़ दावानल की ओर ही हुई और वह उसमे भस्म हो गया।

यही दशा ज्ञानहीन क्रियावान् की और क्रियाहीन ज्ञानवान् की होती है।

एक दूसरे अंधे और पंगु के समक्ष भी यही परिस्थिति उत्पन्न हुई। उन्होने परस्पर समझौता किया। दोनो मे समन्वय स्थापित हुआ। अंधे ने पंगु को अपने कंधे पर बिठलाया। पंगु पथ प्रदर्शित करने लगा और अंधा चलने लगा। पारस्परिक सहयोग से दोनो की त्रुटि की पूर्त्ति हो गई और वे सकुशल नगर मे जा पहुँचे।

इसी प्रकार समन्वित ज्ञान और क्रिया से सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।*

राजनैतिक पंचशील

आज के युग में असाधारण और अभूतपूर्व वैज्ञानिक क्रान्ति हुई और

---

* संजोगसिद्धी य फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ।
अंधो य पंगू य वणे समेच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा॥
—आव० निर्युक्ति, ११६५.

हो रही है। विज्ञान-वेत्ताओं ने जो अन्वेषण किए हैं, उनसे एकदम अभिनव समस्याएँ मानवजाति के समक्ष आ उपस्थित हुई हैं। संहार के ऐसे विकराल साधन निर्मित हो चुके हैं कि भूमंडल के सर्वनाश के विरस स्वर गूंजने लगे हैं। राष्ट्रों के पारस्परिक भौगोलिक अन्तर समाप्त-से हो गए हैं। ऐसे युग में आवश्यक है कि विभिन्न राष्ट्रों के नायकों का हार्द अन्तर भी समाप्त हो जाय और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ बन्धु-भावना, सहानुभूति एवं मैत्री का व्यवहार करे। इस प्रकार के मधुर सम्बन्धों के बिना विश्व का त्राण नहीं है।

इस दृष्टिकोण से प्रेरित होकर भारत के महामान्य प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने राजनीतिक 'पंचशील' की योजना प्रस्तुत की और विश्व के त्राण एवं कल्याण के लिए नूतन मार्ग प्रदर्शित किया है।

इन पंचशील सिद्धान्तों को ॐ के मध्य भाग में स्थान प्रदान किया गया है। प्रश्न किया जा सकता है कि अध्यात्म साधना के केन्द्र ॐ में राजनीति घुसेड़ने की क्या आवश्यकता थी? मगर भूलना नहीं चाहिये कि जीवन एक अखण्ड तत्त्व है जिसे समाज, धर्म, अर्थ, राजनीति आदि के विभिन्न क्षेत्रों में विभक्त नहीं किया जा सकता। इन सभी चीजों का वैयक्तिक और सामाजिक जीवन पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। अतएव जीवन की शान्ति और स्वस्थता के लिए राजनैतिक शान्ति और स्वस्थता अनिवार्य है।

श्री नेहरू द्वारा प्रतिपादित पंचशील ये हैं:-

१. सार्वभौमिकता का सम्मान
२. अनाक्रमण
३. अहस्तक्षेप
४. पारस्परिक सहयोग और समानता
५. शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

प्रथम शील 'सार्वभौमिकता का समादर' का अर्थ है—प्रत्येक देश अपनी भूमि और सार्वभौमिकता के साथ दूसरो कीभूमि पर सार्वभौमिकता का उचित सम्मान करे। इससे आपसी विद्वेष और कलह का निवारण होगा और मानवता शांति लाभ करेगी।

दूसरे शील 'पारस्परीक अनाक्रमण' की भावना से ओतप्रोत होकर जब कोई देश दूसरे देश पर आक्रमण नही करेगा, प्रस्तुत समझौता, शाति और वार्त्तालाप के द्वारा ही विवादो को सुलझाने का प्रयत्न करेगा तो किसी भी प्रकार की अशांति को सिर उठाने का अवसर ही नही मिलेगा।

'अहस्तक्षेप' का अभिप्राय हैं—एक दूसरे देश के आन्तरिक मामलो मे टाँग न अड़ाए। सब को अपनी अपनी शासनपद्धति और निर्धारित नीति मे किसी दूसरे देश की ओर से वाधा न डाली जाय।

चौथा शील 'पारस्परिक सहयोग और समानता' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसमे मानवता की सेवा और मानव शांति की भावना तरंगित हो रही है। इस शील मे यह बात निहित है कि प्रत्येक देश, दूसरे देश को अपने ही समान समझे, उसके प्रति आत्मीयता की भावना से बर्त्ताव करे, और जो देश जिस क्षेत्र मे पिछड़ा हुआ हो, उसके उस क्षेत्र मे विकाश करने मे सहयोग दिया जाय। इस शील का प्रामाणिकता के साथ पालन किया जाय तो देश की उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो सकता है। इससे मानवता को एक नया जीवन मिलेगा और प्रत्येक देश का निवासी अनुभव कर सकेगा कि मानव जाति एक और अखंड है, चाहे वह एशिया मे हो, यूरोप मे हो या अमरीका मे हो। सब का भाग्य एक ही सूत्र मे बँधा है।

'शान्ति सह-अस्तित्व' पांचवा शील है। इसका संक्षिप्त अर्थ है—जीओ और जीने दो। सभी देशो का अपना अपना अस्तित्व है और रहेगा। यदि हम समझ ले कि प्रत्येक राष्ट्र को रहने का अधिकार है

और एक राष्ट्र दूसरे का विरोधी नहीं अनुराष्ट्र है, तो युद्ध की विभीषिका तथा विध्वंस की काली घटाओं का शीघ्र ही अन्त आ जायेगा; और इसी मानव लोक को स्वर्ग लोक बनते विलम्ब नहीं लगेगा। प्रति वर्ष विनाश के साधनों पर व्यय होने वाला अरबों-खरबों की विपुल धनराशि विकास के साधनों में प्रयुक्त होने लगेगी।

इस प्रकार विश्वशांति के लिए पंचशील का सिद्धान्त अमोघ जड़ी-बूटी है।

अधोलोक

सात नरकों का स्थान अधोलोक में ही है, अतएव ब्रह्माण्ड-स्वरूप 'ओ' पद के अधोभाग में नरक-भूमियों का उल्लेख अप्रासंगिक नहीं है।

जो भद्र प्राणी 'ॐ' इस महामन्त्र की आराधना करता है, उसे नरक की दारुण यातनाएँ नहीं भोगनी पड़तीं, प्रत्युत सदा के लिए नारकीय यातनाओं से मुक्ति मिल जाती है।

जैन शास्त्रों में नरक भूमियां सात मानी गई हैं, जिनके नामों का 'ॐ' के निचले भाग में उल्लेख किया गया है।

नरक पापी जीवों के पाप को भोगने के स्थान हैं, जो घोर अंधकार-मय, भांति-भांति पीड़ाओं से युक्त और अतीव भयङ्कर हैं। इन स्थानों से बचने का उपाय है—पंचपरमेष्ठी के समन्वित रूप ओंकार की आराधना। जो ओंकार की आराधना करके अपने अन्तरात्मा को पवित्र और जीवन को सात्विक बना लेते हैं, उन्हें नरक का अतिथि नहीं बनना पड़ता।

इसके विपरीत जो मनुष्य मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के वशीभूत होकर ओंकार के महामहिम स्वरूप को नहीं पहचानते, उन्हें नरक में लम्बे काल तक निवास करना पड़ता है। यही भाव द्योतित करने के लिए सात नरक-भूमियों के बीच मिथ्यात्व आदि का प्रस्तुत किया गया है। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

मिथ्यात्व

अयथार्थ रुचि, श्रद्धा या प्रतीति ही वास्तव मे मिथ्यात्व या मिथ्या दृष्टि है। मिथ्यात्वग्रस्त जीव मनुष्य हो तो भी वह विवेकहीन होने के कारण पशु के समान माना गया है।* मिथ्या-दृष्टि जीव तत्त्व-अतत्त्व का भेद नही कर सकता। उसकी अन्तर्दृष्टि जागृत नही होती, अतएव वह तरह-तरह की भ्रान्तियो से घिरा रहता है। वह अदेव को देव, कुगुरु को सुगुरु और अधर्म को धर्म मानकर आत्मा के अकल्याण मे प्रवृत्त रहता है। उसकी आत्मा अत्यन्त कलुषित और मलिन होती है। वह अपने दृष्टि विपर्यास के कारण अहित को हित और हित को अहित समझता है। जैसे कटुक तूंवे के सम्पर्क से मधुर दुग्ध भी कटुक रूप मे परिणत हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के योग से मिथ्या-दृष्टि मे जो भी ज्ञानमात्रा होती है, वह सब मिथ्याज्ञान ही बन जाती है।

मिथ्यात्वी प्राणी प्रथम तो आत्मतत्व, पुनर्जन्म, पुण्य-पाप और बन्ध और मोक्ष को स्वीकार ही करता, कदाचित् स्वीकार कर ले तो आत्मकल्याण के लिए प्रवृति नही करता। कोई-कोई ऐसे भी होते है जो अपनी भ्रांत धारणा के अनुसार त्यागमय जीवन पथ पर चलते हैं, मगर उनका आचार मिथ्यात्व के विष से दूषित होने के कारण मिथ्या-चार ही होता है। उसका फल भवभ्रमण के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही होता।

मिथ्यादृष्टि प्राणी के लिये वह कड़ी बेडी है जो उसे आध्यात्मिक विकास की प्रथम भूमिका पर भी आरूढ़ नही होने देती। आत्मशोधन के समीचीन मार्ग का ही पता नही होता। अतएव मुमुक्षु जीव का सर्वप्रथम मिथ्यात्व से पिण्ड छूटना नितान्त आवश्यक है। जब तक मिथ्यात्व नही जाता, कोई भी क्रिया आत्मस्पर्शी और आत्मलक्षी नही हो सकती। मिथ्यात्व के नष्ट होने ही दृष्टि शुद्ध होती है, लक्ष्य स्थिर होता है और प्रवृत्ति आत्महितकारिणी बन सकती है।

* नरत्वेऽपि पशूयन्ते, मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः।　　—पं० आशाधर।

अविरति

हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह, यह पांच मूलभूत पाप हैं। इनका पूर्ण रूप से या आंशिक रूप में भी त्याग न होना अविरति है। मिथ्यादृष्टि जीव में तो ऐसी जागृति या स्फूर्ति ही नहीं होती कि वह इन पापों का त्याग कर सके, अनेक सम्यग्दृष्टि भी इनका परित्याग नहीं कर पाते। वे अहिंसादि व्रतों को उपादेय एवं पापाचरण को हेय समझते हुए भी तदनुकूल प्रवृत्ति करने में अक्षम रहते हैं।

जीवन में अनेक बार यह घटित होता देखा जाता है कि मनुष्य का विवेक जागृत होता है, उसकी कर्त्तव्य बुद्धि भी सोई नहीं होती, फिर भी अन्तरतर की दुर्बलता उस विवेक और बुद्धि को व्यर्थ बना देती है और मनुष्य ऐसे काम कर बैठता है जिन्हें वह स्वयं करना पसंद नहीं करता। बाद में उसके हृदय में पश्चात्ताप की आग प्रज्वलित होती है और वह अपने आपको धिक्कारता है। किन्तु अवसर आने पर फिर उसी दुर्बलता का शिकार हो जाता है। इस प्रकार अन्तस् की सद्भावना भावना ही बनी रहती है, वह क्रिया में परिणत नहीं हो पाती। यह दुर्बलता ही अविरति कहलाती है।

प्रमाद

कुशल कर्मों के प्रति अनादर बुद्धि या उपेक्षा होना प्रमाद है। साधक को 'स्व' के प्रति सतत जागरूक रहना पड़ता है। [illegible], वह जीवनयापन के लिये जो भी क्रियायें करता है, उन क्रियाओं के समय भी जागृत ही रहता है।* उसकी चित्तवृत्ति सदैव 'स्व' में केन्द्रित रहती है। वह अपने लक्ष्य से क्षण भर के लिये भी विस्मरण नहीं होने देता। यह सतत जागृति ही अप्रमाद है। इसके विपरीत, कुशलकर्म

* सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरंति। —आचारांग

आदि किसी कारण से उसकी दृष्टि जब बहिर्मुख बनती और लक्ष्य ओझल हो जाता है, तब प्रमाद की स्थिति है। भगवान् महावीर से अपने ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति गौतम को पुनः पुनः सतर्क करते हुए कहा है– 'गौतम ! एक समय भी प्रमाद न कर।'†

पनिहारी अपनी सखियों–सहेलियों से बातें करती चलती है, हँसती है, बोलती है, तथापि उसका अन्तस् मस्तक पर स्थित घट में ही अटका रहता है, इसी प्रकार संयमनिष्ठ साधक का मन प्रत्येक क्रिया के समय अपने 'स्व' के साथ ही समन्वित रहना चाहिये। यह स्थिति तभी उत्पन्न हो सकती है जब अप्रमत्तभाव विकसित हो जाता है।

प्रमाद एक प्रकार की व्यभिचार वृत्ति है, सुषुप्ति है, पतन है। वह साधक को पथ भ्रष्ट कर देता है, भुलावे में डाल देता है। प्रमाद के कारण पापकृत्यों में प्रवृत्ति होती है। अप्रमत्त अवस्था में की गई क्रिया जो पापजनक नहीं होती, वही क्रिया जब प्रमत्त दशा में की जाती है तो पापजनक हो जाती है। इसी से कल्पना की जा सकती है कि प्रमाद कितना भयंकर है।

कषाय

आत्मा का प्रबल से प्रबल प्रत्यनीक कषाय ही है। कषाय से बढ़कर आत्मिक शक्तियों का विघात करने वाला अन्य कोई भी विकार नहीं है।

'कषाय शब्द 'कष+आय' के योग से निष्पन्न हुआ है। 'कष' का अर्थ है—कर्म अथवा भव। जिनसे कर्म की और भवपरम्परा की अर्थात् जन्म-मरण की 'आय' अर्थात् प्राप्ति होती है, उसे कषाय कहते

---

† समयं गोयम ? मा पमायए

—उत्तराध्ययन, अ. १

है। तात्पर्य यह है कि जिस विकार के कारण आत्मा कर्मजाल में आबद्ध होती है और जिसकी बदौलत भव-भ्रमण करता है, वह विकार कषाय है।

आत्मा के उत्थान और पतन का जो दीर्घकालीन नाटक चल रहा है। उसका सूत्रधार कषायभाव है। ज्यों-ज्यों कषाय की तीव्रता में वृद्धि होती है, आत्मा मलीन होता जाता है, स्वभाव से विमुख होकर विभाव परिणति में ग्रस्त होता जाता है। और आध्यात्मिक पतन की ओर अग्रसर होता जाता है। इसके विपरीत जैसे-जैसे कषायों का क्षयण उपशम होता है, आत्मा की स्व-स्वभाव में स्थिरता होती जाती है, उसके संक्लेप का अन्त आता जाता है, अनिर्वचनीय शान्ति का उदय होता है और आत्मा अपने उत्थान के उच्च-उच्चतर सोपानों पर आरोहण करता चला जाता है।

शास्त्र में चौदह गुणस्थानों का विशद वर्णन किया गया है। गुण-स्थान आत्मिक विकास की भूमिकायें हैं। अगर तनिक गहराई के साथ गुणस्थानों के स्वरूप पर विचार किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि उन भूमिकाओं का प्रधान आधार कषाय है। किस प्रकार कषाय के तीव्र-तीव्रतर उद्रेक से आत्मा अधःपतन के गहरे गर्त में गिरता जाता है और किस प्रकार कषायों पर विजय प्राप्त करता हुआ साधक अपने शुद्ध स्वरूप को प्रकट करता हुआ पारमार्थिक ऐश्वर्य से युक्त होता जाता है, इस बात की सही कल्पना गुणस्थानों के अध्ययन से हो जाती है। गुणस्थानों का अध्ययन एक प्रकार से कषाय के तारतम्य का ही अध्ययन है।

कषाय विजय को छोड़कर आत्म-शुद्धि का अन्य कोई उपाय सम्भव नहीं है।

यों तो कषाय-जन्य भाव की तीव्रता, तीव्रतरता, तीव्रतमता, मंदता, मन्दतरता, मन्दतमता आदि के आधार पर कषाय के भेद इससे अधिक

हैं। तात्पर्य यह है कि जिस विकार के कारण आत्मा कर्मजाल से आबद्ध होती है और जिसकी बदौलत भव-भ्रमण करता है, वह विकार कषाय है।

आत्मा के उत्थान और पतन का जो दीर्घकालीन नाटक चल रहा है। उसका सूत्रधार कषायभाव है। ज्यों-ज्यों कषाय की तीव्रता में वृद्धि होती है, आत्मा मलीन होता जाता है, स्वभाव से विमुख होकर विभाव परिणति में मग्न होता जाता है। और आध्यात्मिक पतन की ओर अग्रसर होता जाता है। इसके विपरीत जैसे-जैसे कषायों का क्रमशः उपशम होता है, आत्मा की स्व-स्वभाव में स्थिरता होती जाती है, उसके संक्लेश का अन्त आता जाता है, अनिर्वचनीय शान्ति का उदय होता है और आत्मा अपने उत्थान के उच्च-उच्चतर सोपानों पर आरोहण करता चला जाता है।

शास्त्र में चौदह गुणस्थानों का विशद वर्णन किया गया है। गुणस्थान आत्मिक विकास की भूमिकायें हैं। अगर तनिक गहराई से सारे गुणस्थानों के स्वरूप पर विचार किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि उन भूमिकाओं का प्रधान आधार कषाय है। किस प्रकार कषाय के तीव्र-तीव्रतर उद्रेक से आत्मा अधःपतन के गहरे गर्त में गिरता जाता है और किस प्रकार कषायों पर विजय प्राप्त करने वाला मानव अपने शुद्ध स्वरूप को प्रकट करता हुआ पारमात्मिक ऐश्वर्य से मण्डित होता जाता है, इस चीज की सही कल्पना गुणस्थानों के अध्ययन से ही आती है। गुणस्थानों का अध्ययन एक प्रकार से कषाय के तारतम्य का ही अध्ययन है।

कषाय विजय को छोड़कर आत्म-शुद्धि का अन्य कोई उपाय सम्भव नहीं है।

यों तो कषाय-अध्यवसाय की तीव्रता, तीव्रतरता, तीव्रतमता, मंदता, मन्दतरता, मन्दतमता आदि के आधार पर कषाय के भेद तो अधिक

हो जाते हैं कि उनकी गणना नही हो सकती, तथापि उसके पार्थक्य का आभास देने की दृष्टि से चार स्थूल विभाग किये गए है, जो इस प्रकार हैं:—

१. अनन्तानुवन्धी
२. अप्रत्याख्यानावरण
३. प्रत्याख्यानावरण
४. संज्वलन

यह चारो कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से चार-चार प्रकार के है। चाहे अनन्तानु बन्धी आदि के क्रोधादि चार भेद किए जाएँ, चाहे क्रोधादि के अनन्तानुबन्धी आदि के चार-चार भेद कर लिए जाएँ, अभिप्राय मे कोई अन्तर नही पड़ता। ये सब मिलकर सोलह प्रकार के कषाय है।

पूर्वोक्त चारो कषायो मे अनन्तानुवंधी कषाय सबसे तीव्र है। इस कषाय की विद्यमानता मे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही की जा सकती। इसके वशीभूत होकर मरने वाले प्राणि को नरक गति का अतिथि बनना पड़ता है। यह कषाय संस्कार के रूप मे प्रायः यावज्जीवन बना रहता है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय जब तक बना रहता है, तब तक देश-विरति उत्पन्न नही होती। इसके उदय मे देहोत्सर्ग करने वाले को तिर्यंचगति मे—पशु-पक्षी आदि की योनि मे, जन्म लेना पड़ता है। इसका संस्कार चार मास तक बना रहता है।

प्रत्याख्यानावरण कषाय सम्यक्त्व और देशविरति मे तो रुकावट नही डालता, मगर सर्वविरति-सम्पूर्ण संयम का बाधक है। इसका संस्कार एक पखवाड़े तक रहता है।

चारो में सबसे हल्का कषाय संज्वलन है। यह चरित्र मे रुकावट तो नही डालता, मगर उसमे पूर्ण निर्मलता नही आने देता। स्वात्म-

रमण रूप यथाख्यात चारित्र, जो सर्वोत्तम माना गया है, उस कषाय की उदयावस्था में नहीं उत्पन्न हो पाता।

किन्तु हल्का सा प्रतीत होने वाला यह कषाय भी बड़ा [illegible] है। आध्यात्मिक विकास की ग्यारहवीं भूमिका पर पहुँचने वाले महामुनि इसे पूरी तरह उपशान्त कर देते हैं। उपशान्त कर देने का अर्थ यह है कि उसका समूल क्षय नहीं करते वरन् दबा देते हैं। उस समय वह महामुनि कषायोदय से सर्वथा मुक्त वीतराग हो जाता है और यथाख्यात चारित्र को प्राप्त कर लेता है। मगर थोड़ी ही देर में वह उपशान्त किया हुआ कषाय पुनः उभर आता है और उस महामुनि को पतनोन्मुख बना देता है।* वह शीघ्र न संभल सका तो उसे निम्न से निम्न भूमिका पर आकर दीर्घतर काल पर्यन्त भवभ्रमण करना पड़ता है। इसी कारण महामनीषी आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने कहा था ऋण, व्रण, अग्निकण और कषाय को थोड़ा समझ कर विश्वास नहीं करना चाहिये। इनकी अल्पता देख कर निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिये। अत्यल्प मात्रा में शेष रह कर भी यह आगे में [illegible] बन जाते हैं।‡ इनका समूल विनाश करके ही दम लेना चाहिये।

संग्रहनय के दृष्टिकोण से क्रोधादि चारों कषायों का [illegible] में समावेश हो जाता है। क्रोध और मान अप्रीत्यात्मक होने से द्वेष में सम्मिलित हैं। व्यवहारनय के अभिप्राय से माया भी द्वेष का [illegible]

---

* उवसामं उवणीया गुणमहया जिणचरित्तसरिसं पि।
पडिवायंति कसाया किं पुण सेसे सरागत्थे॥
—आवश्यक निर्युक्ति, [illegible]

‡ अणथोवं वणथोवं अग्गीथोवं कसायथोवं च।
न हु भे वीससियव्वं थोवं पि हु तं बहु होइ॥
—आव. नि. [illegible]

है। ऋजुसूत्रनय की दृष्टि मे क्रोध ही द्वेष रूप है तथा शेष तीन कभी राग और कभी द्वेष रूप होते है। शब्दनय का अभिप्राय इसीसे मिलता जुलता है।⁂

आशय यह कि आत्मा की मलीनता का प्रधान कारण कषाय या राग-द्वेष है। अतएव समग्र साधना का प्रत्यक्ष या परोक्ष उद्देश्य कषाय से मुक्ति प्राप्त करना है। कषाय से मुक्त होना ही वास्तव मे सर्वोत्कृष्ट सिद्धि है।

योग

'योग' शब्द अनेक अर्थों मे प्रचलित है। योगशास्त्र के अनुसार चित्त की वृत्तिमात्र का या अप्रशस्त वृत्ति का निरोधयोग कहलाता है, किन्तु यहाँ यह अर्थ अभिप्रेत नही है। धर्मशास्त्र मे मन, वचन और काय के व्यापार को या इनके व्यापार से आत्म-प्रदेशो मे होने वाले परिस्पन्दन को 'योग' कहा गया है।*

मन मनोवर्गणा के पुद्गलो से बनता है। वचन भाषा से निर्मित होता है और काय औदारिक आदि वर्गणा के पुद्गलो से जनित है।

जब आत्मा मे वीर्यान्तिराय कर्म का क्षयोपशम या क्षय होता है तब उक्त पुद्गलो के आलम्बन से आत्मा के प्रदेशो मे एक विशेष प्रकार का कम्पन-हलन-चलन होता है जब मनोवर्गणा के पुद्गलो के आलम्बन से होता है तब वह मनोयोग कहलाता है, भाषाजनीय पुद्गलो के आधार से होता है तो वचन योग कहा जाता है और शरीर के सहारे होता है तो उसे काययोग की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार आत्मप्रदेशपरिस्पन्दन रूप योग मूलतः एक होते हुए भी आलम्बनो की भिन्नता के कारण तीन प्रकार का माना गया है।‡

⁂ विशेषावश्यकभाष्य, उत्तरार्ध।

* कायवाङ्मनःकर्म योग.। —तत्त्वार्थ सूत्र, ६–१

‡ देखिये विशेषावश्यक भाष्य और टीका. गाथा ३५५–६४

जब आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होता है तो कर्म-पुद्गलों का आस्रवण होता है और फिर वह कर्म आत्मा के साथ, दूध-पानी की तरह एकमेक हो जाते हैं। आत्मा के साथ कितने कर्मों का बन्ध हो और उन कर्मों में किस प्रकार के स्वभाव का निर्माण हो, यह दोनों बातें 'योग' की विशेषता पर अवलम्बित है। अतएव चार प्रकार के बंध में दो—स्थिति बन्ध और रसबन्ध—कषाय के निमित्त से और दो—प्रकृतिबन्ध तथा प्रदेशबंध—योग के निमित्त से माने गए हैं।* अर्थात् बंधने वाले कर्म में किस प्रकार के स्वभाव का निर्माण हो और वे कितनी तादाद में हों, यह दो बातें योग के आधार पर नियमित रहती हैं।

योग दो प्रकार का है—अशुभ और शुभ। हिंसा आदि के अशुभ आशय से होनेवाला कायिक व्यापार अशुभ काययोग, कर्कश, कठोर या मिथ्याभाषण करना अशुभ मनोयोग है। इससे विपरीत प्रवृत्ति होना शुभ योग है।

कषाय की विद्यमानता में योग अवश्य होता है किन्तु योग के होने पर कषाय होता है और नहीं भी होता। कषाय दसवें गुणस्थान तक रहता है जबकि योग तेरहवें गुणस्थान तक। अर्हन्त भगवान् सयोग होते हैं, किन्तु जब उनका आयुष्य अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाता है तब वे परमोत्तम शुक्लध्यान नामक समाधि के बल से योग का पूर्णरूप से निरोध करके, अयोग अवस्था प्राप्त करते हैं और फिर निर्वाण प्राप्त करने में उन्हें विलम्ब नहीं लगता।

---

* जोगा पयड़-पएसा, ठिइ-अणुभागा कसायओ हुंति।

—[illegible]

प

रि

शि

ष्ट

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रयुक्त ग्रन्थों के नाम

(१) बीज कोष
(२) भगवद् गीता
(३) माण्डूकोपनिषद्
(४) यजुर्वेद
(५) छान्दोग्योप निषद्
(६) कठोपनिषद्
(७) मैत्र्युपनिषद्
(८) तैत्तिरीय उपनिषद्
(९) कल्याण का साधना अङ्क
(१०) त्रिषष्ठि शलाका पुरुष
(११) भोज प्रबन्ध
(१२) पञ्चवस्तुक
(१३) ज्ञानार्णव
(१४) उत्तराध्ययन
(१५) महानिशीथ
(१६) बृहद् द्रव्य संग्रह टीका
(१७) रत्नाकर
(१८) शिव तोषन कोश
(१९) आचाराङ्ग
(२०) णमोकार मंत्र माहात्म्य
(२१) सिद्ध प्राभृत
(२२) योग शास्त्र
(२३) मार्कण्ड पुराण

(२४) प्रतिष्ठा कल्प पद्धति
(२५) यशस्तिलक चम्पू द्वि भाग
(२६) भागवत
(२७) दशवैकालिक
(२८) हारीत संहिता
(२९) तत्त्वार्थ सूत्र
(३०) योग सूत्र
(३१) सर्वार्थ सिद्धि
(३२) तत्त्वार्थ भाष्य
(३३) प्रश्न व्याकरण
(३४) सूत्र कृताङ्ग
(३५) वृहद् स्वयंभू स्तोत्र
(३६) वौद्धकालीन प्रस्तर लेख
(३७) औपपातिक
(३८) स्थानाङ्ग
(३९) दशाश्रुत स्कंध
(४०) आवश्यक निर्युक्ति
(४१) गाधी उज्ज्वल वार्ता
(४२) साधना का राजमार्ग
(४३) विशेषावश्यक भाष्य
(४४) गोम्मट सार